# स्थितप्रज्ञ-दर्शन

०

लेखक

विनोबा

अनुवादक

हरिभाऊ उपाध्याय

●

सर्व सेवा संघ प्रकाशन

राजघाट, वाराणसी

# प्रकाशकीय

विनोबा की तीन आध्यात्मिक कृतियाँ हैं, उत्तरोत्तर गहन और सूक्ष्म—'गीता-प्रवचन', 'स्थित-प्रज्ञ-दर्शन' और 'उपनिषदों का अध्ययन'। आदि और अन्त के बीच की कड़ी है यह ग्रन्थ।

'स्थितप्रज्ञ-दर्शन' ग्रन्थ का यह संस्करण सर्व सेवा संघ की ओर से प्रकाशित हो रहा है। सर्वप्रथम इस ग्रन्थ का प्रकाशन सन् १९४६ में हुआ था। तब से अब तक इसका प्रकाशन सस्ता साहित्य मण्डल, नयी दिल्ली से होता रहा है।

इस महत्त्वपूर्ण और शास्त्रीय ग्रन्थ को मूल मराठी से मिलाने में पहले तथा दूसरे संस्करणों में उरुलीकांचन के श्री कृष्णचन्द्रजी ने पर्याप्त श्रम किया था। अब, इस संस्करण के मिलान तथा संशोधन में श्री ति० न० आत्रेय तथा श्री जमना-लाल जैन दोनों ने महीनों तक काफी परिश्रम किया है और श्री शिवाजी भावे ने इसे भलीभाँति देख लिया है। अब यह संस्करण मूल मराठी के अत्यन्त निकट और मूलवत् बन सका है, ऐसा कह सकते हैं। हम इन साथियों के आभारी हैं।

# निवेदन

सन् १९४४ के जाड़ों में सिवनी-जेल में कुछ लोगों के सामने 'स्थितप्रज्ञ-लक्षण' पर दिये गये ये व्याख्यान हैं। सारे हिन्दुस्तान में हजारों सत्याग्रही स्त्री-पुरुष रोज शाम को प्रार्थना में इन लक्षणों का पाठ भक्तिभाव से करते हैं। उनके उपयोग के लिए ये व्याख्यान पुस्तक-रूप में प्रस्तुत हैं। शास्त्र-संतोषार्थ उनमें आवश्यक परिवर्तन भी किया गया है।

स्थितप्रज्ञ के लक्षणों में समग्र दर्शन ही भरा हुआ है। उसे खोलकर दिखाने का इनमें प्रयत्न किया गया है। संभव है, उसका कुछ भाग पाठकों को पहले ही वाचन में शायद हृदयंगम न हो; परन्तु अनेक बार पढ़कर चिन्तन करते रहने से, और जितना समझ में आ गया है उतने का प्रयोग करते रहने से, धीरे-धीरे अनुभव के द्वारा सारा आशय खुल जायगा।

तीस वर्षों के निदिध्यास से जो अर्थ स्थिर हुआ, उसका विवरण यहाँ किया है। इसमें कुछ कमी-वेशी होगी ही। उसका उपाय यही है कि सब कुछ ईश्वरार्पण करके छुट्टी पायें। मेरे विचार में इसी हेतु से यह प्रकाशन किया जा रहा है।

**परंधाम, पवनार**
**१२ अप्रैल, १९४६**

—विनोबा

**पुनश्च**

'स्थितप्रज्ञ-दर्शन' एक शास्त्रीय पुस्तक है और साधकों को उससे बहुत मदद मिलती है, ऐसा अनुभव हुआ है। 'गीता-प्रवचन' के बाद की वह पुस्तक है। 'गीता-प्रवचन' जिसने पढ़ ली, वह 'स्थितप्रज्ञ-दर्शन' का अधिकारी हो जाता है। साधक-मण्डली में उसका स्वाभाविक प्रचार हो रहा है।

—विनोबा

१६-१०-'५३ के पत्र से ]

# अनुक्रम

[ २ ] २७. इन्द्रिय-नियमन वस्तुतः कठिन नहीं। २८. इन्द्रिय-नियमन के दो प्रकार : संयम और निग्रह। २९. उनका और अधिक विवरण। ३०. इन्द्रिय-जय का गीता की दृष्टि में महत्त्व।



[ १ ] ३१. इन्द्रिय-जय के विज्ञान की प्रस्तावना। ३२. निराहार प्राथमिक साधना, रस-निवृत्ति पूर्णता। ३३. पूर्ण व्याख्या के साथ ही प्राथमिक साधना की दर्शक गीता की गुरु-दृष्टि। ३४. प्राथमिक साधना स्पष्ट ही अपूर्ण, परन्तु इसलिए ढोंग नहीं। ३५. साधना की पूर्णता पर-दर्शन, अर्थात् आत्म-दर्शन।

[ २ ] ३६. इंद्रियों का उद्दण्ड स्वभाव : मनु का एतद्विषयक वचन। ३७. मनु की और गीता की भूमिका समान नहीं। ३८. ज्ञानी और प्रयत्नवान् मनुष्य के मन को भी इन्द्रियाँ खींच सकती हैं। ३९. परन्तु ज्ञान और तितिक्षा-पूर्वक प्रयत्न, यही दो शक्तियाँ मनुष्य के पास हैं। ४०. जब ये भी काफी न हों तो क्या करें ?



[ १ ] ४१. मनु और गीता के वचनों का विशेष विवेचन। ४२. युक्तिपूर्वक यथाशक्ति इन्द्रिय-निग्रह करके जब अपना बल कम पड़े तो भक्ति का आवाहन करें। ४३. वहीं भक्ति आवश्यक। ४४. प्राप्त शक्ति का पूर्ण उपयोग कर लेने पर ही ईश्वर से अधिक शक्ति माँगने का अधिकार है। ४५. इसके लिए गजेन्द्र-मोक्ष का परिष्कृत दृष्टान्त। ४६. ईश्वर-शरणता में पराधीनता नहीं।

[ २ ] ४७. स्थूल सांसारिक कार्य ईश्वर की सहायता के विषय नहीं। ४८. ईश्वर से याचना—याचना की उचित रीति। ४९. मेरे लिए क्या उचित है यह स्वयं ईश्वर ही जानता है, अतः सकाम प्रार्थना न करें। ५०. सकाम-भक्ति को भी सशर्त मान्यता।



[ १ ] ५१. अब तक के विवेचन का सारांश : यतत् + विपश्चित् + मत्पर = स्थितप्रज्ञ। ५२. ईश्वर-परायणता स्वतंत्र ध्येय है। ५३. ध्येय विधायक होना

चाहिए। ५४. ब्रह्मचर्य अर्थात् ईश्वर-परायणता—ऐसा विधायक ध्येय है। ५५. ईश्वर-भक्ति ईश्वर-भक्ति के ही लिए है। ५६. भक्त की भूमिका प्राकृतिक चिकित्सक की तरह।

[ २ ] ५७. अनन्यता सकामता को भी बचा लेती है। ५८. गुदामदेव का दृष्टान्त। ५९. भक्त को सब बातों में ईश्वर-कृपा ही दिखाई देती है। ६०. अनन्य भक्त की सकामता व्यापक सद्भावना ही है; एक लौकिक दृष्टान्त।

[ ३ ] ६१. ईश्वर-परायणता ही मुख्य वस्तु है। वासना को भी ईश्वर-परायण बनाओ। ६२. वासना मूलतः बुरी नहीं है; ईश्वर-परायणता से वासना का रूपान्तर होता है। ६३. निष्कामता, अनन्यता और ईश्वर-भावना हो तो फिर भौतिक विद्या की उपासना भी पावन हो सकती है।



[ १ ] ६४. इन्द्रिय-जय के तत्त्वज्ञान की प्रस्तावना। विषय-चिंतन से बुद्धि-नाश तक की व्यतिरेक-परम्परा। ६५. विषय-चिंतन से संग और संग से काम पैदा होता है। ६६. फिर काम से क्रोध उत्पन्न होता है। इस विषय में भाष्यकारों के स्पष्टीकरण। ६७. एकनाथ का एतद्विषयक हल। ६८. 'क्रोध' शब्द से यहाँ 'क्षोभ' समझना है। ६९. क्रोध का अर्थ है क्षोभ अर्थात् चित्त की अप्रसन्नता। ७०. कामना से चित्त-क्षोभ क्यों होता है?

[ २ ] ७१. क्रोध से मोह होता है, अर्थात् बुद्धि भोथरी होती है। ७२. मोह से स्मृति-भ्रंश होता है, अर्थात् यह होश नहीं रहता कि हम कौन हैं? ७३. 'भान मिटता है', इसका अर्थ क्या? ७४. स्मृतिभ्रंश से बुद्धिनाश।



[ १ ] ७५. पिछले विवेचन का सार : बुद्धि-नाश ही विनाश की अन्तिम सीढ़ी। ७६. गीता को शब्दों के सूक्ष्म अर्थ ही अभिप्रेत हैं। ७७. स्मृति बनाम स्मरण-शक्ति। ७८. आत्म-स्मृति के अभाव में संस्कार-पराधीनता। ७९. गीता-श्रवण का फलित मोह-नाश और तज्जन्य स्मृति-लाभ। ८०. 'मोहनाश'

का अर्थ है, कर्तव्य का खुलासा। ८१. इसीके अनुषंग में क्रोध शब्द के अर्थ पर विचार। ८२. 'स्थितोऽस्मि गतसन्देहः' अर्थात् मैं स्थितप्रज्ञ हो गया।

[ २ ] ८३. नारद के सुझाव के अनुसार शब्दों के स्थूल अर्थ भी अपनी भूमिका के अनुसार लिये जा सकते हैं। ८४. बुद्धिनाश-परम्परा के विभाजन का रहस्य : पहले मन पर, फिर बुद्धि पर आक्रमण।



[ १ ] ८५. स्थिर बुद्धि की परम्परा का आरम्भ : राग-द्वेष छोड़कर इन्द्रियों का उपयोग करनेवाला प्रसाद पाता है। ८६. दोनों परम्पराओं की मुख्य सीढ़ियाँ : बीज, शक्ति और फलित। ८७. प्रसाद शब्द के अर्थ में भ्रम। ८८. वस्तुतः प्रसाद का अर्थ है प्रसन्नता अर्थात् स्वास्थ्य। ८९. प्रसन्नता से सब दुःख सदा के लिए मिट जाते हैं, क्योंकि दुःखमात्र मनोमल का परिणाम है।

[ २ ] ९०. प्रसन्नता से स्थिर बुद्धि सहज साध्य। ९१. शिशु का दृष्टान्त। ९२. समाधि कहते हैं मूल स्थिति को; उसे बाह्य साधनों की आवश्यकता नहीं। ९३. चित्त-शुद्धि हुई कि समाधि लगी। ९४. फिर भी तात्कालिक उपाय के रूप में बाह्य साधन भी उपेक्षायोग्य नहीं।



[ १ ] ९५. बुद्धि-नाश की अनर्थकारिता बताने के निमित्त जीवन के पाँच मूल्यों का अवतरण। ९६. सर्वाधार संयम : संयम के बिना बुद्धि नहीं। ९७. आगे का अध्याहार : बुद्धि के बिना भावना नहीं।

[ २ ] ९८. अध्याहार की खूबी : बुद्धि से भावना अलग नहीं; परिनिष्ठित बुद्धि ही भावना है। ९९. परिनिष्ठित बुद्धि-रूप भावना के उदाहरण। १००. प्रगत समाज में अनेक भावनाएँ घुली हुई रहती हैं। उन्हींसे समाज में शांति रहती है। १०१. परन्तु समाज में पैवस्त भावना सर्वथा बुद्धियुक्त ही होती हो, सो बात नहीं। अतः भावना के कुशल संशोधन की आवश्यकता। १०२. संशोध्य भावना का एक उदाहरण : मांसाहार-निवृत्ति। १०३. दूसरा

उदाहरण : अन्नदान-संबंधी श्रद्धा। १०४. स्थिर प्रज्ञा पर ही निर्मित भावना शांतिदायी। १०५. अतः स्थितप्रज्ञ का नेतृत्व स्वीकारना चाहिए।



[ १ ] १०६. 'भावना' शब्द का और थोड़ा विचार। १०७. बुद्धि-प्रधानता बनाम भावना-प्रधानता—यह भेद स्थितप्रज्ञ में नहीं रहता। १०८. बुद्धि को भावना में परिणत करने के उपाय : जप, ध्यान तथा आचरण। १०९. भावना का अर्थ 'भक्ति' भी हो सकता है। भक्ति के बिना शांति नहीं, शांति के बिना सुख नहीं।

[ २ ] ११०. परन्तु सुख का अर्थ मन का सुख नहीं। मन का सुख भिन्न है, मनुष्य का सुख भिन्न है। १११. 'होना' पन का सुख ही सच्चा सुख : वही सतत रुचियुक्त सुख। ११२. कुम्भक का उदाहरण। ११३. आत्म-सुखानुभूति का व्यवहार से विरोध नहीं है। आत्मबोध का बाह्य उद्योगों में खर्च न होने देना पर्याप्त है। ११४. आत्म-बोध को खंडित न होने देने की युक्ति : पहले क्षण आघात का असर न होने दें।



[ १ ] ११५. इन्द्रियों के पीछे जानेवाला मन बुद्धि को भी खींच ले जाता है। इसलिए संयम की आवश्यकता। ११६. बुद्धि नौका की तरह तारक, परन्तु मन की पकड़ में आ जाय तो वही मारक हो जाती है। ११७. बुद्धि और मन सदा के लिए जुदा नहीं हो सकते। या तो बुद्धि मन के वश में हो जायगी, या मन बुद्धि के वश में रहेगा। दूसरी बात श्रेयस्कर।

[ २ ] ११८. ज्ञानदेव का विशिष्ट निर्देश : ज्ञानी के लिए भी असावधान होकर इन्द्रियों को खुला छोड़ देने की गुंजाइश नहीं। ११९. वस्तुतः ज्ञानी नियम से नहीं, स्वभाव से संयमी रहता है। १२०. ज्ञानी तो क्या, साधक को भी संयम भार-रूप नहीं होता। १२१. स्थितप्रज्ञ के लिए असंयम अशक्य : क्योंकि स्थिर बुद्धि का तो आधार ही संयम है। १२२. सावधानता की अपेक्षा

न रखनेवाली सहजावस्था एक प्रकार से मानवीय आकांक्षा मात्र है। अतः सावधानी का संकेत हर हालत में उचित ही है।

[ ३ ] १२३. इस तरह संयम की आवश्यकता आदि से अन्त तक सिद्ध हुई, अतः निगमन।



[ १ ] १२४. अन्तिम विभाग : स्थितप्रज्ञ की स्थिति का खुलासा। १२५. खुलासे का पहला सांकेतिक श्लोक। इनकी रात सो उसका दिन, और उसकी रात सो इनका दिन। १२६. अर्थात् स्थितप्रज्ञ की कुल जीवन-दृष्टि ही दूसरों से विपरीत होती है। १२७. भोजन का उदाहरण। १२८. नींद का उदाहरण। १२९. सामान्य व्यवहार में यही स्थिति।

[ २ ] १३०. इस रूपक की भाषा में सांख्य-बुद्धि, योग-बुद्धि और स्थितप्रज्ञ के लक्षण तीनों एक में लपेट दिये हैं। १३१. सांख्य-बुद्धि का स्वरूप : आत्मा का अकर्तापन, तदनुसार प्रस्तुत श्लोक का पहला अर्थ। १३२. योग-बुद्धि का स्वरूप : फल-त्याग। १३३. आनुषंगिक चर्चा—'मा फलेषु' का यह अर्थ कि फल का अधिकार नहीं, गलत है। १३४. फल का अधिकार है, पर उसे छोड़ देना है। १३५. नीति-शास्त्र की भूमिका : जिसका कर्म, उसीको फल। १३६. योग-बुद्धि की भूमिका उससे ऊँची : तदनुसार इस श्लोक का दूसरा अर्थ। १३७. स्थितप्रज्ञ के लक्षणानुसार इस श्लोक का तीसरा अर्थ। १३८. गीता के श्लोक में बताये गये तीनों अर्थों के संकेत।



[ १ ] १३९. खुलासे का दूसरा सांकेतिक श्लोक। ज्ञानी समुद्र की तरह सब काम पचा जाता है। १४०. 'काम' शब्द के अर्थ की छानबीन। १४१. स्थितप्रज्ञ सब काम पचा लेता है, यह उसके ज्ञान का गौरव है।

[ २ ] १४२. ज्ञान के गौरव और ज्ञान के स्वरूप के बीच में उसका नीति-सूत्र है। १४३. बीच में, अर्थात् कहाँ ? यह तत्कालीन समाज की भूमिका पर

अवलम्वित रहेगा। १४४. ज्ञानी के नीति-सूत्रों के संबंध में ग्रांथिक कल्पना अनर्थकारक।

[ ३ ] १४५. इस श्लोक को देखने की दूसरी दृष्टि : स्थितप्रज्ञ भावावस्था में सब शुभ देखता है। १४६. शुभ + अशुभ = शुभ; क्योंकि अशुभ = ०। १४७. अशुभ मिथ्या, साधना मिथ्या, अशुभ का मरण मिथ्या। केवल एक शुभ सत्य : यह है भावावस्था।

## पन्द्रहवाँ व्याख्यान ११७–१२६

[ १ ] १४८. स्थितप्रज्ञ-लक्षणों का उपसंहार। स्थितप्रज्ञ को कोई कामना नहीं, जिजीविषा नहीं। १४९. मुमूर्षा भी नहीं, मरण की भीति भी नहीं। १५०. जीवन की अभिलाषा ही वास्तविक मरण की भीति। उसके जाते ही जीवन आनन्दमय हो जाता है। १५१. 'चरति' पद के द्वारा यही सूचित किया गया है।

[ २ ] १५२. 'चरति' का अर्थ 'विषयान् चरति' नहीं। १५३. 'चरति' का अर्थ आश्रम-संन्यास नहीं। १५४. 'चरति' याने विहार करता है। ज्ञानदेव की भाषा में 'विचरे विश्व होउनी। विश्वामांजी'। १५५. कामना और जीवनाभिलाषा छूटने पर अब शरीर बाकी रहा, सो केवल उपकारार्थ। 'निर्ममो निरहंकारः' पद से यही भाव सूचित किया है।

[ ३ ] १५६. पूर्वोक्त भावावस्था और क्रियावस्था से भिन्न स्थितप्रज्ञ की यह ज्ञानावस्था बिलकुल अवर्णनीय। १५७. भावावस्था में समग्रता है। १५८. क्रियावस्था में विवेक है। १५९. तीनों अवस्थाएँ मिलाकर स्थितप्रज्ञ की एक ही अखंड वृत्ति।

## सोलहवाँ व्याख्यान १२७–१३६

[ १ ] १६०. स्थितप्रज्ञ की तिहरी अवस्था के मूल में ईश्वर का त्रिविध स्वरूप। १६१. ईश्वर का पहला रूप केवल शुभ। १६२. दूसरा, विश्व-रूप। १६३. तीसरा, शुभाशुभ से परे ब्रह्म-संज्ञित। १६४. गीता की परिभाषा में

## स्थितप्रज्ञ-लक्षण

### अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किम् आसीत व्रजेत किम् ॥

### भगवान् उवाच

१. प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मनि एव आत्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञः तदा उच्यते ॥

२. दुःखेषु अनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीः मुनिः उच्यते ॥

३. यः सर्वत्र अनभिस्नेहः तत् तत् प्राप्य शुभाशुभम्।
न अभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

४. यदा संहरते च अयं कूर्मः अङ्गानि इव सर्वशः।
इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यः तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

५. विषयाः विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसः अपि अस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥

## स्थितप्रज्ञ के लक्षण

अर्जुन ने कहा :

स्थितप्रज्ञ समाधिस्थ कहते कृष्ण हैं किसे,
स्थितधी बोलता कैसे, बैठता और डोलता।

श्री भगवान् ने कहा :

१. मनोगत सभी काम तज दे जब पार्थ जो,
आपमें आप हो तुष्ट, सो स्थितप्रज्ञ है तभी।

२. दुःख में जो अनुद्विग्न, सुख में नित्य निःस्पृह,
वीतराग-भय-क्रोध, मुनि है स्थितधी वही।

३. जो शुभाशुभ को पाके न तो तुष्ट न रुष्ट है,
सर्वत्र अनभिस्नेही, प्रज्ञा है उसकी स्थिरा।

४. कूर्म ज्यों निज अंगों को, इन्द्रियों को समेट ले,
सर्वशः विषयों से जो, प्रज्ञा है उसकी स्थिरा।

५. भोग तो छूट जाते हैं निराहारी मनुष्य के,
रस किंतु नहीं जाता, जाता है आत्म-लाभ से।

६. यततः हि अपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥

७. तानि सर्वाणि संयम्य युक्तः आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्य इन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

८. ध्यायतः विषयान् पुंसः सङ्गः तेषु उपजायते ।
सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधः अभिजायते

९. क्रोधात् भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशः बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥

१०. रागद्वेषवियुक्तैः तु विषयान् इन्द्रियैः चरन् ।
आत्मवश्यैर् विधेयात्मा प्रसादम् अधिगच्छति ॥

११. प्रसादे सर्वदुःखानां हानिः अस्य उपजायते ।
प्रसन्नचेतसः हि आशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥

१२. न अस्ति बुद्धिः अयुक्तस्य न च अयुक्तस्य भावना ।
न च अभावयतः शान्तिः अशान्तस्य कुतः सुखम् ॥

१३. इन्द्रियाणां हि चरतां यत् मनः अनुविधीयते ।
तद् अस्य हरति प्रज्ञां वायुर् नावम् इव अम्भसि ॥

६. यत्नयुक्त सुधी के भी इन्द्रियाँ ये बल से
मन को हर लेती हैं अपने बल से युक्त हो,

७. इन्हें संयम से रोके, मुझीमें रत, युक्त हो,
इन्द्रियाँ जिसने जीतीं, प्रज्ञा है उसकी स्थिरा ।

८. भोग-चिन्तन होने से होता उत्पन्न संग है,
संग से काम होता है, काम से क्रोध भारत ।

९. क्रोध से मोह होता है, मोह से स्मृतिविभ्रम,
उससे बुद्धि का नाश, बुद्धिनाश विनाश है ।

१०. रागद्वेष-परित्यागी करे इन्द्रिय-कार्य जो,
स्वाधीन वृत्ति से पार्थ, पाता आत्मप्रसाद सो ।

११. प्रसाद-युत होने से छूटते सब दुःख हैं,
होती प्रसन्नचेता की बुद्धि सुस्थिर शीघ्र ही ।

१२. नहीं बुद्धि अयोगी के, भावना उसमें कहाँ,
अभावन कहाँ शान्त, कैसे सुख अशान्त को ।

१३. मन जो दौड़ता पीछे इन्द्रियों के विहार में —
खींचता जन की प्रज्ञा, जल में नाव वायु ज्यों ।

१४. तस्माद् यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यः तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

१५. या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतः मुनेः ॥

१६. आपूर्यमाणम् अचलप्रतिष्ठम्
समुद्रम् आपः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् कामाः यं प्रविशन्ति सर्वे
सः शान्तिम् आप्नोति न कामकामी ॥

१७. विहाय कामान् यः सर्वान् पुमान् चरति निःस्पृहः ।
निर्ममः निरहङ्कारः सः शान्तिम् अधिगच्छति ॥

१८. एषा ब्राह्मी-स्थितिः पार्थ न एनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वा अस्याम् अन्तकाले अपि ब्रह्मनिर्वाणम्
ऋच्छति ॥

१४. अतएव महाबाहो, इन्द्रियों को समेट ले—
सर्वथा विषयों से जो, प्रज्ञा है उसकी स्थिरा ।

१५. निशा जो सर्व भूतों की, संयमी जागते वहाँ,
जागते जिसमें अन्य, वह तत्त्वज्ञ की निशा ।

१६. नदी-नदों से भरता हुआ भी
समुद्र है ज्यों स्थिर सुप्रतिष्ठ,
त्यों काम सारे जिसमें समावें,
पाता वही शान्ति, न काम-कामी ।

१७. सर्व-काम परित्यागी विचरे नर निःस्पृह,
अहंता-ममता-मुक्त, पाता परम शान्ति सो ।

१८. ब्राह्मीस्थिति यही पार्थ, इसे पाके न मोह है,
टिकती अन्त में भी है ब्रह्मनिर्वाण-दायिनी ।

# पहला व्याख्यान

## १

**१. गीता में स्थितप्रज्ञ के लक्षणों का विशेष स्थान**

'स्थितप्रज्ञ के लक्षण' गीता का अतिशय प्रसिद्ध विभाग है। अत्यन्त प्राचीन काल से लेकर आज तक इतनी प्रसिद्धि प्रायः गीता के किसी भी दूसरे विभाग को नहीं मिली होगी। इसका कारण है। 'स्थितप्रज्ञ' गीता का आदर्श पुरुष-विशेष है। यह शब्द भी गीता का खास शब्द है। गीता के पूर्ववर्ती ग्रंथों में वह नहीं मिलता। गीता के बाद के ग्रंथों में वह खूब मिलता है। स्थितप्रज्ञ की तरह गीता में आदर्श पुरुषों के और भी वर्णन हैं। कर्मयोगी, जीवन्मुक्त, योगारूढ़, भगवद्भक्त, गुणातीत, ज्ञाननिष्ठ इत्यादि अनेक नामों से अनेक आदर्श चित्र भिन्न-भिन्न स्थलों पर आये हैं, परन्तु इन आदर्शों को औरों ने भी उपस्थित किया है। गीता में ये आदर्श भिन्न-भिन्न साधना के वर्णन के सिलसिले में उपस्थित किये गये हैं। वे स्थितप्रज्ञ से कोई भिन्न पुरुष हैं, ऐसी बात नहीं। 'स्थितप्रज्ञ' के ही वे अनेक पहलू हैं। उन सबके वर्णन में स्थितप्रज्ञ के लक्षण गीता ने प्रायः कहीं-न-कहीं गूँथ ही दिये हैं। जैसे—पाँचवें अध्याय में संन्यासी अथवा योगी पुरुष के वर्णन में 'स्थिर-बुद्धिः' शब्द प्रयुक्त हुआ है। बारहवें अध्याय में भक्त के लक्षणों की समाप्ति 'स्थिरमतिः' शब्द द्वारा की है। बुद्धि की स्थिरता हुए बिना कोई भी आदर्श पूर्ण नहीं होता। इसीलिए यह प्रकरण इतना महत्त्वपूर्ण माना जाता है। जीवन-मुक्ति की सिद्धि के लिए सबूत पेश करते हुए भाष्यकार[1] ने स्थितप्रज्ञ के लक्षण उपस्थित किये हैं। अन्तिम आदर्श का, ध्येयमूर्ति का, साधक की दृष्टि से इतना सविस्तर विवेचन यह एक ही है।

---

१. शंकराचार्य।

स्थितप्रज्ञ के लक्षणों को समझने के लिए उसके पहले की भूमिका का विचार कर लेना उपयोगी होगा। यह प्रकरण गीता के दूसरे अध्याय के अन्त में आया है। इसके पहले विवेचन के दो भाग आ गये हैं—(१) सांख्य-बुद्धि अर्थात् आत्मज्ञान, अथवा ब्रह्मविद्या-शास्त्र और (२) योग-बुद्धि अर्थात् आत्मज्ञान के अनुसार जीवन की कला। शास्त्र तथा कला मिलकर ब्रह्मविद्या परिपूर्ण बनती है। किसी भी विद्या पर यह बात लागू होती है। संगीत-विद्या को ही लें। किसीने संगीत-शास्त्र तो सीख लिया, परन्तु कण्ठ-स्वर में व्यक्त करने की कला नहीं साधी तो वह संगीत किस काम आयेगा? इसके विपरीत, गले में कला तो है, परन्तु शास्त्र-ज्ञान नहीं, तो फिर प्रगति का मार्ग खत्म—कुंठित हुआ समझिये। वही स्थिति अध्यात्म-विद्या की, अर्थात् मनुष्य के जीवन की। मनुष्य का तत्त्वज्ञान उसकी बुद्धि में गुप्त रहेगा, प्रकट होगा उसका आचरण। उसके आचरण से ही उसके तत्त्वज्ञान का नाप संसार को तथा उसको भी मालूम होगा। आचरण और ज्ञान में अन्तर भले ही रहे, पर विरोध हरगिज नहीं रहना चाहिए और अन्तर भी सतत कम करते रहना चाहिए। यह काम योग-बुद्धि का है। तुलसीदासजी ने सन्तों की उपमा त्रिवेणी से दी है। तुलसीदासजी ने संतसमाज[1] को लक्ष्य करके एक अन्य ही त्रिवेणी की कल्पना की है। भक्ति—गंगा, कर्मयोग—यमुना, इस तरह उपमाएँ देकर ब्रह्मविद्या को उन्होंने गुप्त सरस्वती का स्थान दिया है। इस उपमा के द्वारा उन्होंने यह सूचित किया है कि ब्रह्मविद्या सदैव सरस्वती की तरह अव्यक्त ही रहनेवाली है। उसे योग-बुद्धि प्रकट करेगी। साधक को योग-बुद्धि प्रत्यक्ष मार्ग-दर्शन कराती है। सांख्य-बुद्धि योग-बुद्धि की बुनियाद-जैसी है। बुनियाद के

**२. पूर्व-भूमिका : सांख्य-बुद्धि व योग-बुद्धि**

---

१. मुद मंगलमय संत समाजू। जो जग जंगम तीरथराजू॥
रामभक्ति जहँ सुरसरि धारा। सरसइ ब्रह्म विचार प्रचारा॥
विधि निषेधमय कलिमल हरनी। करम कथा रविनंदिनि बरनी॥

विना घरनहीं वन सकता, विना घर के वुनियाद वेकार है । दियासलाई में आग अव्यक्त स्वरूप में रहती है । दियासलाई रगड़ने से वह प्रकट होती है । अव्यक्त विजली का कार्य सूक्ष्म वुद्धि ही जान सकती है । वही जव व्यक्त हो जाती है तव उसकी सामर्थ्य हर किसीको दिखायी देती है । सांख्य-वुद्धि और योग-वुद्धि का पारस्परिक सम्वन्ध ऐसा ही है ।

योग-वुद्धि का पहला स्वरूप है कर्तव्य-निश्चय । कर्तव्य-निश्चय हुए विना साधना आरम्भ ही नहीं होती । निश्चय के वाद एकाग्रता, अर्थात् साधना में तन्मयता, फल पर ध्यान न देते हुए साधना में लीन हो जाने की वृत्ति, साधनैकशरणता अथवा साधन-निष्ठा । यह दूसरी मंजिल है । उसके आगे की मंजिल है चित्त की निर्विकार दशा अथवा समता, अर्थात् समाधि । वही जव स्थिर, अचल हो जाती है, किसी भी झोंके से जव डगमगाती नहीं है तो स्थित-प्रज्ञावस्था प्राप्त होती है । जिस पर विकारों की, विचारों की, वल्कि वेदवचनों की भी सत्ता शेष नहीं रही है, जिसकी समाधि अचल है, स्थिर हो गयी है, वह स्थितप्रज्ञ है । इस तरह योग-वुद्धि की ये चार मंजिलें हैं :

**३. योग-वुद्धि की आखिरी मंजिल : स्थिर समाधि, अर्थात् स्थितप्रज्ञता**

( १ ) साधन-निश्चय, ( २ ) फल-निरपेक्ष एकाग्रता, ( ३ ) समता अथवा समाधि, और ( ४ ) स्थिरसमाधि—अखण्ड, निश्चल और सहज । यही स्थित-प्रज्ञावस्था है ।

भगवान् के इस विवेचन से कि योग-वुद्धि का अन्तिम परिपाक स्थिर समाधि में, स्थितप्रज्ञता में होता है, अर्जुन के हाथ प्रश्न-वीज लगा । इसलिए उन्हीं शव्दों को पकड़कर, उसने यह जानने के लिए कि स्थितप्रज्ञ कैसा होता है, पूछा :

**४. तद्विषयक जिज्ञासा**

> स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
> स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥

ऐसे स्थितप्रज्ञ का लक्षण क्या है ? वह कैसे बोलता है, कैसे रहता है, कैसे फिरता है, यह सब मुझे बताइये। इसके उत्तर में भगवान् ने स्थितप्रज्ञ के लक्षण बताये हैं, जो कि हमारी चर्चा का विषय है।

## २

**५. दुहरी समाधि : वृत्ति-परक तथा स्थितिपरक**

भगवान् के विवेचन का विचार करने से पहले यहाँ 'समाधि' शब्द को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए, क्योंकि इस शब्द से बहुत ही भ्रम पैदा हुआ है। समाधि का आम-तौर पर अर्थ किया जाता है—ध्यान-समाधि। यदि कोई आदमी समाधि में है यानी जिस बात का वह चिन्तन कर रहा है उसके अलावा उसे दूसरा कोई भी संवेदन नहीं होता, तो फिर अर्जुन का यह प्रश्न ही उड़ जाता है कि समाधिस्थ पुरुष बोलता कैसे है, चलता कैसे है, फिरता कैसे है ? इस कठिनाई को देखकर कुछ भाष्यकारों ने स्थितप्रज्ञ-अवस्था के दो विभाग कर दिये हैं : (१) समाधि में रहते हुए स्थितप्रज्ञ कैसे बरतता है और (२) समाधि में न रहते हुए कैसे बरतता है—इस तरह दुहरा विवेचन किया है। इस विवेचन में कल्पना तो है, परन्तु उसमें विचार-दोष है। इसमें इस बात का ध्यान नहीं है कि गीता-प्रतिपादित इस जगह की समाधि भिन्न प्रकार की है। चढ़ने-उतरने-वाली समाधि ध्यान-समाधि है। स्थितप्रज्ञ की समाधि इससे भिन्न है। वह ज्ञान-समाधि है। वह न चढ़ती है, न उतरती है। "नैनां प्राप्य विमुह्यति", इस तरह उसका वर्णन किया गया है। अर्थात् वह एक स्थिति है, वृत्ति नहीं। ध्यान-समाधि एक वृत्ति है। चार-चार दिन टिक जाने पर भी उसके उतरने की अपेक्षा रहती है, यह वैसी समाधि नहीं है।

स्थितप्रज्ञ की समाधि वृत्ति नहीं है, वह निवृत्ति है। 'निवृत्ति'

शब्द से लोग घबराते हैं। वे कहते हैं—"यह तो खामोश होकर बैठ जाना है", परन्तु यह ठीक नहीं है। आखिर खामोश बैठना भी एक वृत्ति ही है। स्थितप्रज्ञ में वह वृत्ति भी नहीं है। वह सब तरह से निवृत्त है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह ध्यान नहीं करेगा। किसी सेवा-कार्य का चिन्तन करने के लिए, अथवा फुरसत के समय में, वह कुछ समय ध्यानादि करेगा, परन्तु वह उसका लक्षण नहीं है। उसका लक्षण तो है स्थिरबुद्धि। कर्मयोग जैसे एक उपयोगी साधन है, वैसे ध्यान भी उपयोगी सावन है; परन्तु कर्मयोग की तरह ही ध्यान भी स्थितप्रज्ञ की स्थिति नहीं है।

**६. स्थितप्रज्ञ की समाधि वृत्ति नहीं है**

पतंजलि के योगशास्त्र के कारण 'समाधि' शब्द का अर्थ, 'ध्यान-समाधि' रूढ़ हो गया है। परन्तु पतंजलि ने भी 'ध्यान-समाधि' को अन्तिम स्थिति नहीं माना है। पतंजलि के सूत्र सुव्यवस्थित एवं अनुभव पर आधारित [illegible] शास्त्र है। उनके कुल १९५ सूत्रों में पहले तीन सूत्र सारभूत हैं। ब्रह्मसूत्र की चतुःसूत्री की तरह योगसूत्र में यह त्रिसूत्री है—( १ ) अथ योगानुशासनम्; ( २ ) योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः; ( ३ ) तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम्। इन तीन सूत्रों में सारा शास्त्र थोड़े में समाप्त हो गया है; परन्तु इसमें समाधि का तो कहीं नाम भी नहीं आया है। प्राप्तव्य तो योग है, और 'चित्तवृत्ति-निरोध' उसकी व्याख्या है। समाधि अर्थात् ध्यान-समाधि भी एक वृत्ति ही है और उसका उपयोग पतंजलि ने वृत्ति-निरोधरूपी योग की लब्धि के लिए शिरोमणि साधन के तौर पर बताया है। 'श्रद्धा वीर्य स्मृति समाधि प्रज्ञापूर्वकः', यह उनकी योग पर चढ़ने की सीढ़ी है। आरंभ में श्रद्धा, उससे वीर्य अर्थात् उत्साह, तत्पूर्वक स्मृति अर्थात् आत्म-स्मरण, तत्परिपाक तन्मयतारूपी ध्यान-समाधि, उससे प्रज्ञा, और प्रज्ञा स्थिर हुई कि वही योग है। इन सीढ़ियों से योग प्राप्त होता है, ऐसा उन्होंने स्पष्ट कहा है। अर्थात् योग की प्राप्ति के लिए समाधि के बाद उन्होंने प्रज्ञा बतायी है। यह 'प्रज्ञा' शब्द पतंजलि ने गीता से ही

**७. इस विषय में गीता और योग-सूत्रों की एकवाक्यता**

लिया है। अर्जुन के प्रश्न से पूर्व के श्लोक में भगवान् ने कहा है कि समाधि में बुद्धि के अचल हो जाने पर तुझे योग की प्राप्ति होगी। 'योग' ही पतंजलि का अंतिम शब्द है। उसका साधन उन्होंने प्रज्ञा बताया है और समाधि को प्रज्ञा-लब्धि का साधन बताया है। समाधि का ध्यान-स्वरूप मिटकर जब उसे सदा की सहज स्थिति का स्वरूप प्राप्त होता है, तब वह प्रज्ञा कहलाती है। इस तरह पतंजलि के सूत्रों तथा गीता के विवेचन में समन्वय है।

## २

स्थितप्रज्ञ की कल्पना में बुद्धिवाद की पराकाष्ठा हो गयी है। बुद्धि, शुद्ध बुद्धि को बोध का साधन माना गया है। राग-द्वेषादि विकारों से अलिप्त बुद्धि ज्ञान का सही साधन हो सकता है। हम कहते हैं कि फलाँ बात मेरी बुद्धि को नहीं जँचती। गीता कहती है—'मेरी बुद्धि को' मत कह; 'मेरी' विशेषण को छोड़कर केवल शुद्ध बुद्धि क्या कहती है, यह देख! 'मेरे'पन में अहंकार है, विकार है, संस्कारों की गुलामी है, परिस्थिति का बन्धन है। तू 'मद्बुद्धिवादी' है या बुद्धिवादी? जब बुद्धि विकाररहित हो जाती है, सब उपाधियों से अलग हो जाती है तो वह स्थित होती है।

**८. 'स्थित'-प्रज्ञ में कम्पन और वक्रता नहीं**

'स्थित होती है' का मतलब सीधी तनकर खड़ी रहती है, डगमगाती नहीं, उसमें कम्पन नहीं रहता। 'सो विकम्पेन योगेन युज्यते', उसे निष्कंप योग प्राप्त होता है—ऐसा जो आगे दसवें अध्याय में कहा है, उसका अर्थ यही है। बुद्धि में जरा-सा भी कम्पन या डगमगाहट, हिचकिचाहट, घबराहट और अनिश्चय न रहना चाहिए। तभी वह बुद्धि काम देगी और उसे तभी बुद्धि कहेंगे। 'स्थित' शब्द का दूसरा अर्थ है 'सरल'। बुद्धि बिलकुल सरल होनी चाहिए। उसमें जरा भी वक्रता न होनी चाहिए। चरखे के तकुए में, महीन सूत कातते वक्त जरा भी टेढ़ापन नहीं चल सकता। बिलकुल सीधा, सरल होने पर ही वह काम देता है। यही हाल बुद्धि का है। चरखे का सरल-

सीधा तकुआ स्थित-प्रज्ञ की बुद्धि के लिए उत्कृष्ट उपमा है। सीधे तकुए को अंग्रेजी में 'ट्रू' कहते हैं। इस शब्द में बड़ी खूबी है। जिस तकुए में जरा भी वक्रता न हो उसे 'ट्रू' अर्थात् 'अचूक' कहते हैं। इसी तरह बुद्धि ट्रू अर्थात् अचूक होनी चाहिए।

**९. कम्पन और वक्रता का और विश्लेषण**

कम्पन और वक्रता इन दोषों का थोड़ा पृथक्करण कर लेना चाहिए। वस्तुतः ये दोनों मिलकर एक ही दोष हैं। चरखे के तकुए से यह बात समझ में आ जाती है। जो तकुआ टेढ़ा होता है, वही काँपता है। यही बात बुद्धि की है। सरल-सीधी बुद्धि कभी नहीं काँपती। इस तरह कम्पन और वक्रता दोनों के एक-रूप होने पर भी विचार की दृष्टि से उनका पृथक्-पृथक् अर्थ ग्रहण करना चाहिए। सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो कम्पन मुख्यतः बुद्धि का और वक्रता मन का दोप है। मन एक तरह से बुद्धि का ही भाग है, तो भी विचार की सुविधा के लिए उसे बुद्धि से अलग कर लिया जाता है। छोटे बच्चे का मन बिलकुल सरल होता है, अतः वह बड़ी तेजी से ज्ञान ग्रहण कर सकता है। इसलिए ज्ञान-दृष्टि से ऋजुता को सबसे महत्त्वपूर्ण गुण समझना चाहिए। बिना ऋजुता के निश्चित और निष्कम्प ज्ञान प्राप्त नहीं होगा। 'अर्जुन' शब्द का अर्थ भी मूल में 'ऋजु बुद्धिवाला' है।

**१०. बुद्धि और प्रज्ञा का भेद**

गीता का 'प्रज्ञा' शब्द विशेप अर्थ का द्योतक है। 'बुद्धि' शब्द सामान्य है। बुद्धि मनुष्य के मनोविकारों के अनुसार बदलने-पलटने-वाली होती है। मनुष्य की मानसिक कल्पनाओं के रंग बुद्धि पर चढ़ते हैं। यह रंगीन बुद्धि अचूक निर्णय करने का कार्य नहीं कर सकती। जिस बुद्धि पर मानसिक कल्पनाओं का, विकारों का, पसंदगी-नापसंदगी का, वृत्तियों का रंग नहीं चढ़ता, जो केवल ज्ञान का कार्य करती है, वह प्रज्ञा है। प्रज्ञा तटस्थ होती है। वह ठीक वस्तु-स्वरूप पर लक्ष्य रखकर निर्णय दिया करती है। जब बुद्धि पर रंग चढ़ जाता है तो एक ही बुद्धि की अनेक बुद्धियाँ बन जाती

हैं। दया का रंग चढ़ जाने पर दया-वुद्धि, द्वेप का रंग चढ़ जाने पर द्वेष-वुद्धि। इस प्रकार अनेक वुद्धियाँ मनुष्य को चारों ओर खींचने का, त्रस्त करने का, व्याकुल कर देने का, जर्जर करने का काम अलवत्ता करती रहती हैं। ऐसी हजार वुद्धियाँ मार्गदर्शन करने में वेकार हैं। शुद्ध वुद्धि, अर्थात् प्रज्ञा ही ठीक निर्णय देती है, क्योंकि उसका अपना कोई रंग नहीं होता। वह थर्मामीटर की तरह होती है। स्वयं थर्मामीटर को वुखार नहीं चढ़ा होता, इसीसे वह दूसरों के ताप का मापक हो सकता है।

**११. शरीर-शक्ति से वुद्धि-शक्ति की विशेषता**

वुद्धि किसीके पास कम या ज्यादा हो, इसका महत्त्व नहीं है। महत्त्व स्वच्छ वुद्धि का है। आग की छोटी-सी चिनगारी भी कार्यकारी हो सकती है। वह कपास के ढेर को जला सकती है। इसके विपरीत कोयला वहुत वड़ा-सा होने पर भी वह उसमें दव जाता है। प्रश्न वुद्धि के कम या ज्यादा होने का नहीं है। शुद्ध वुद्धि की एक छोटी-सी चिनगारी, एक छोटी-सी ज्योति भी काफी है। वुद्धि की शक्ति की यही खूवी है। शारीरिक शक्ति की वात ऐसी नहीं है। कोई सींकिया पहलवान इस जन्म में गामा वन सकेगा या नहीं, इसमें संदेह हो सकता है। किसी अल्प-वुद्धि मनुष्य के लिए राष्ट्रकार्य-संचालन का नेतृत्व साधना सम्भव नहीं, परन्तु नितान्त अल्प-वुद्धि और अशिक्षित मनुष्य भी इस जन्म में स्थितप्रज्ञ निःसंदेह हो सकता है। उसके लिए गठरीभर वुद्धि की जरूरत नहीं है। प्रज्ञा की एक चिनगारी ही काफी है। भारी-भरकम वुद्धि चाहे संसार में कितने ही काम-काज और उथल-पुथल करती रहे, परन्तु त्रिभुवन को भस्म करने की सामर्थ्य तो केवल प्रज्ञा की चिनगारी में ही है।

# दूसरा व्याख्यान

## १

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥

अर्जुन का प्रश्न हमने देखा। प्रज्ञा किसे कहते हैं, समाधि क्या है, इसका भी हमने विचार किया। प्रज्ञा का अर्थ सामान्य बुद्धि नहीं,

### १२. समाधि का कुछ और विवेचन

बल्कि वह बुद्धि है, जिसका झुकाव केवल निर्णय की ओर होता है। यह प्रज्ञा 'स्थित' अर्थात् सीधी खड़ी रहनी चाहिए। 'सीधी खड़ी' का मतलब है निश्चित और सरल। हमने यह भी देख लिया कि 'समाधि' का मतलब ध्यान-समाधि नहीं है। यहाँ 'समाधि' शब्द का थोड़ा और विवेचन करना उपयोगी होगा। 'समाधि' शब्द में 'सम्' और 'आ' उपसर्ग हैं तथा 'धा' धातु है। 'समाधान' शब्द की व्युत्पत्ति भी यही है। चित्त के समाधान की स्थिति यानी समाधि है। समाधान यानी 'समतुलन'। जब तराजू के दोनों पलड़े बिलकुल समान हों, तो कहते हैं तराजू समतोल है, तराजू का समाधान है। तराजू की डंडी की तरह चित्त की स्थिति समतोल, अचल और शांत हो जाय तो उसका समाधान हो गया। यह समाधि सदा टिकती है, कभी भी भंग नहीं हो पाती। आगे छठे अध्याय में इस स्थिति की उपमा बिलकुल वायु-रहित स्थान में जलते हुए दीपक से दी गयी है। इसीको 'दीप-निर्वाण' कहते हैं। 'दीप-निर्वाण' का अर्थ करना चाहिए—दीपक की एक-सी अडोल लौ उठते रहना; 'दीपक का बुझ जाना' ऐसा अर्थ करना ठीक नहीं है। बुझ जाने के बाद की शांति, शरीर के रहते हुए, प्राप्त नहीं हो सकती। समाधि का मतलब है चित्त की ऐसी शांत स्थिति, जो इसी देह में—जीवन में—अनुभव की जा सके और जो कभी चलित न हो। इस तरह अर्जुन के प्रश्न का उत्तर इस

प्रश्न के 'समाधि' शब्द से ही सूचित किया जा रहा है और वही अब भगवान् ऊपर के श्लोक में व्याख्या करके बता रहे हैं।

यहाँ समाधि की शास्त्रीय व्याख्या की जा रही है। 'उच्यते' शब्द यहाँ व्याख्या का द्योतक है, ऐसा समझना चाहिए। इस श्लोक की व्याख्या समर्पक और संपूर्ण है, अर्थात् उसका दुहरा स्वरूप है—निषेधक और विधायक। इस तरह दुहरी व्याख्या करने पर ही वह पूर्ण होती है। उदाहरण के लिए अहिंसा शब्द को लें। 'हिंसा न करनी चाहिए' यह उसका निषेधक अर्थ हुआ; 'प्रेम करना चाहिए' यह विधायक हुआ। दोनों को मिलाकर अहिंसा की पूर्ण व्याख्या होगी। 'प्रजहाति यदा कामान्', यह निषेधक लक्षण और 'आत्मन्येवात्मना तुष्टः' यह विधायक स्वरूप हुआ। उभयविध लक्षण सुनिश्चित और सूक्ष्म भाषा में किया गया है।

**१३. स्थितप्रज्ञ की समाधि की निषेधक और विधायक मिलाकर पूर्ण व्याख्या**

'मन की सब कामनाओं को त्याग देना' यह निषेधात्मक लक्षण यहाँ बताया गया है। 'मन' कामनाओं से बना हुआ है। इसका अर्थ यह हुआ कि 'ऐसा मन ही न रहे'। किसी एक ज्योतिषी की नजर सहज मेरे हाथ पर पड़ गयी। उसने कहा, "तुम्हारे हाथ में तो हृदय की रेखा ही नहीं दिखायी देती।" मैंने कहा, "ऐसा हो तो फिर भगवत्कृपा ही प्राप्त हुई।" मेरी दृष्टि से मनुष्य में केवल बुद्धि ही होनी चाहिए, मन का न होना ही अच्छा है। मन को बुद्धि में विलीन हो जाना चाहिए। मन यानी संकल्प-विकल्प। मन यानी कामनाओं की गठरी। संकल्प-विकल्प या कामनाएँ सब ऐसी होनी चाहिए, जो बुद्धि का अनुसरण करें। मन और बुद्धि में अनबन न होनी चाहिए—खींचतान न होनी चाहिए। बस, बुद्धि कहे और मन करे। निर्णय करना बुद्धि का काम है। बुद्धि कानून बनानेवाला महकमा है। मन उस पर अमल करनेवाला महकमा। उसे बुद्धि के क्षेत्र में बिलकुल दखल न देना चाहिए। जिसका काम हो,

**१४. निषेधक व्याख्या : निःशेष कामना-त्याग**

वही करे। जीभ इतना ही देखे कि लड्डू मीठा लगता है या कड़वा। वह खाने के योग्य है या अयोग्य, लड्डू कितना खायें, यह तय करना उसका काम नहीं। वह इसमें फिजूल ही टाँग न अड़ाये। इसी तरह मन को बुद्धि के अनुसार चलना चाहिए। वह धीरे-धीरे बुद्धि में लीन हो जाय। मन-रूपी कामनाओं की गठरी में से यदि एक-एक चिथड़ा निकाल डालें तो फिर वह गठरी खतम हुई समझिये। यों कहिये कि मन घुल गया, मिल गया, विलीन हो गया; बुद्धि से एक-रूप हो गया। यही वास्तविक मनोनाश है। मनोनाश का अर्थ 'मन की शक्ति का नाश' नहीं है। मनोनाश का अर्थ है कि मन बुद्धि का अनुसरण करे। बुद्धि के निर्णय के अनुसार, बिना चीं-चपड़ किये चले। अमल करने की मन की शक्ति को नष्ट करने की जरूरत नहीं है। वह शक्ति कायम रखनी है। किन्तु हाँ, मन की कामनाओं को समूल नष्ट कर देना है। इस तरह मन की सब कामनाओं का सम्पूर्णतः त्याग करना स्थित-प्रज्ञ की व्याख्या का निषेधात्मक अंग हुआ।

**१०. विधायक व्याख्या : आत्मदर्शन**

अब व्याख्या के विधायक अंग का विचार करें। 'आत्मन्येवात्मना तुष्टः' यह विधायक लक्षण है। स्थितप्रज्ञ आत्मा में ही संतुष्ट रहता है। बाहरी दिखावे की अपेक्षा वह भीतरी दृश्य से ही तृप्त होता है। वस्तुतः बाहरी दृश्यों से यह भीतरी दर्शन ही अधिक सुन्दर तथा भव्य होता है। कवि जिस दृश्य का वर्णन अपने काव्य में करता है, उस प्रत्यक्ष दृश्य की अपेक्षा भी उसका वह ( भीतरी ) वर्णन अधिक मधुर होता है। उसका कारण यही है कि उसका वह ध्येयवादमय अंतरंग बाह्य सृष्टि की अपेक्षा अधिक रमणीय होता है। वह रमणीय आत्मदर्शन इस विधायक लक्षण में सूचित किया गया है। इन दोनों लक्षणों को मिलाकर स्थितप्रज्ञ का संपूर्ण दर्शन होता है। वह कामनाओं का त्याग करता है और संतोष का झरना तो उसके अन्दर ही रहता है। कामनाओं में आनन्द नहीं होता है। यह बात उसके चित्त में पैठी होती है। और यह विचार करने

योग्य प्रश्न है कि सचमुच कामनाओं में आनन्द या समाधान है भी ? अनुभव नहीं बताता कि कामनाओं से शांति, शीतलता, समाधान प्राप्त होता है। उलटे उनसे मन सतत छटपटाता रहता है। छटपटाहट मनुष्य को बेचैन कर देती है, आग लगा देती है। अतः ऐसे डर की बिलकुल जरूरत नहीं है कि कामना के चले जाने से शीतलता कम हो जायगी। कामना में जो समाधान मालूम होता है, वह कोरा भास ही है। आनन्द तो कामना की तृप्ति में, अर्थात् दूसरे शब्दों में उसके अभाव में होता है। कामना के पूर्ण होने का अर्थ है एक तरह से उसका शमन होना, नष्ट होना। विचार करने पर यह बात ध्यान में आ जायगी कि आनन्द का स्थान कामना नहीं, बल्कि उससे मुक्ति है। इसीलिए यहाँ कामना का सम्पूर्ण त्याग और आत्मा में ही, अर्थात् अपने स्वरूप में ही संतोष, ऐसा दुहरा लक्षण बताया गया है।

**१६. आत्मदर्शन व कामना-त्याग परस्पर कार्य-कारण हैं**

यहाँ जो दुहरा लक्षण बताया गया, वह केवल विधायक तथा निषेधक ही नहीं, बल्कि उसमें से एक दूसरे प्रकार का भी दुहरा अर्थ निकलता है। इनमें पहला प्रारम्भिक और दूसरा प्रगत स्वरूप का है, ऐसा भी कह सकते हैं। पहला है, तमाम कामनाओं को त्याग देना, जो साधन-रूप है। दूसरा लक्षण कामना-त्याग से प्राप्त स्थिति का द्योतक है। अतः पहला है साधन-रूप प्राथमिक और दूसरा है उसका फलित-रूप प्रगत। 'बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्'—बाह्य विषयों से चित्त जब अलग हो जाता है, तब पता चलता है कि अन्दर कितना आनंद भरा है। इस वाक्य में गीता ने यह क्रम सूचित किया है। इसके विपरीत स्थितप्रज्ञ के लक्षणों में ही आगे चलकर ऐसा भी कहा है कि जैसे-जैसे आत्मदर्शन होता जाता है, वैसे-वैसे कामना का रस सूखता जाता है। इसका यह अर्थ हुआ कि आत्मदर्शन साधन है और कामना-नाश उसका फल। इस दृष्टि से 'आत्मन्येवात्मना तुष्टः' यह मौलिक लक्षण माना जा सकता है। आत्म-तृप्ति दिखायी नहीं देती, कामनाओं का

त्याग दीख जाता है। किसी मनुष्य में कामना का न दिखायी देना उसका प्रकट लक्षण है। वह आत्म-संतोष का चिह्न है और परिणाम भी। अतः उसे फलरूप कह सकते हैं। परन्तु पहले आत्मदर्शन या पहले कामना-त्याग, ऐसा विवाद करना ही व्यर्थ है। 'पहले बीज या पहले पेड़' जैसा ही यह विवाद है। आत्मदर्शन और कामना-त्याग एक-दूसरे के कार्य-कारण हैं।

## २

**१७. कामना-त्याग की चार प्रक्रियाएँ**

यहाँ सब कामनाओं का निःशेष त्याग बताया गया है। अर्थात् कामना कंटक की तरह मानी गयी है। काँटा सोने का होने पर भी चुभेगा ही। छुरी सोने की होने पर भी प्राण लेकर रहेगी। अतः गीता का यह सिद्धान्त है कि झाड़-पोंछकर सारी कामनाएँ निकाल फेंकनी चाहिए। परन्तु गीता के ही आधार पर यह भी कहा जाता है कि कुछ कामनाएँ रहने देने में गीता को आपत्ति नहीं है। 'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ' यह वचन प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत किया जाता है। अतः इस प्रश्न का विचार कर लेना चाहिए। वास्तव में इन दोनों वचनों में कोई विरोध ही नहीं है। एक वाक्य में उस मुकाम का निर्देश किया गया है, जहाँ हमें पहुँचना है। दूसरा वाक्य यह सूचित करता है कि कामनाओं का त्याग कैसे किया जाय। कामना-नाश की प्रक्रिया के साधारणतः चार प्रकार हैं—(१) विस्तारक प्रक्रिया, (२) एकाग्र प्रक्रिया, (३) सूक्ष्म प्रक्रिया और (४) विशुद्ध प्रक्रिया।

**१८. कर्मयोग की विस्तारक प्रक्रिया**

(१) विस्तारक प्रक्रिया : इसमें कामना व्यक्तिगत होती है। उ सामाजिक रूप देना कर्मयोग की कामना-नाश की एक युक्ति है कोई देहाती सज्जन अपने लड़के को पढ़ा चाहते हैं, तो वे अपने गाँव में एक पाठशा ही खोलने का तय कर लें। अपने ल की पढ़ाई के साथ ही और लड़कों की भी पढ़ाई की सुविधा कर

इस तरह अपनी कामना को सामाजिक रूप दें। पुरानी भाषा में एक दूसरा उदाहरण दूँ। किसीकी मांस खाने की इच्छा हुई तो उनसे कहा गया कि मांस खाना हो तो यज्ञ कीजिये। यज्ञ करने पर दूसरों को खिलाने के बाद 'यज्ञ-शिष्ट' आप खा सकेंगे। घर में स्त्रियाँ ऐसा ही करती हैं। मीठा खाने की इच्छा सभी की होती है। घर में मिठाई बनती है। स्त्रियाँ सबको पेटभर खिलाने के बाद बचा-खुचा स्वयं खाती हैं। उनके हिस्से में तो मेहनत ही आती है। इस तरह स्त्रियाँ अपनी कामना को कुटुम्ब-व्यापी बना लेती हैं। यह कर्मयोग की कामना-नाश की युक्ति है। इस प्रक्रिया का उद्देश्य यह है कि व्यक्तिगत वासना को सामाजिक रूप दिया जाय, ताकि वह विस्तृत होते-होते विलीन हो जाय।

**१९. ध्यान-योग की एकाग्र प्रक्रिया**

( २ ) एकाग्र प्रक्रिया : अपने मन की अनेक वासनाओं में तुलना करके देखिये कि उनमें से सबसे प्रबल वासना कौन-सी है। शेष वासनाओं को छोड़कर उसी एक वासना की धुन लगने दीजिये। उसीमें अपना चित्त एकाग्र कीजिये। मान लीजिये, किसी विद्यार्थी को वासनाओं के साथ वेदाभ्यास की भी इच्छा है, परन्तु वह अन्य वासनाओं से बलवती है। वह गुरु-गृह जाकर रहेगा, जो मिलेगा वही खाकर अध्ययन करेगा, अर्थात् वह मीठा खाने की वासना को मार डालेगा। इस तरह अपनी मुख्य वासना को प्रमाण मानकर उसके अनुसार अपना सारा जीवन बनाया जाय, यह ध्यानयोग की युक्ति है। विद्याध्ययन की तीव्र इच्छावाले विद्यार्थियों में हम यह बात पाते हैं कि अन्य वासनाओं का निग्रह करके वे विद्यार्जन के लिए अनेक कष्ट झेलते हैं। 'सुखार्थिनः कुतो विद्या, कुतो विद्यार्थिनः सुखम्' यह व्यासजी ने कहा ही है। हम तो विज्ञापन निकालते हैं कि हमारे छात्रालय में सुख-सुविधा तथा विद्या दोनों की व्यवस्था है। यह भाषा ही गलत है। सुख की ओर ध्यान रहेगा तो विद्या में नहीं रहेगा। अतः अपनी वासनाओं की छानबीन कर जो सबमें

प्रवल लगे, उसी पर एकाग्र होइये। आज के प्रयोगकर्ता भौतिकी वैज्ञानिक ऐसा ही करते हैं। वे अपना सारा ध्यान और शक्ति अपने प्रयोग पर लगाते हैं। यह हुआ ध्यान-योग। अन्य वासनाओं को दूर कर एक ही वासना पर केन्द्रित हों, फिर उसे भी छोड़ दें। यही वह युक्ति है। एकाग्रता सध जाने पर उस वासना का भी त्याग करके मुक्त हो जाना है।

( ३ ) सूक्ष्म प्रक्रिया : इस प्रक्रिया में स्थूल वासना त्यागिये और सूक्ष्म ग्रहण कीजिये, यह युक्ति वतायी जाती है। यदि सज-धज का शौक है तो शरीर को सजाने की अपेक्षा अन्तरंग को सजाओ, अपनी वुद्धि को सजाओ, चतुर वनो। नयी विद्या प्राप्त करो, कला सीखो। शरीर के स्थूल शृङ्गार की अपेक्षा यह वौद्धिक शृङ्गार सूक्ष्म है। इससे भी सूक्ष्म शृङ्गार है हृदय को शुभ गुणों से मंडित करना। शरीर को सुगंधित करनेवाले इत्र की अपेक्षा वुद्धि-चातुर्य अधिक सुगन्धित इत्र है और उससे भी अधिक सुगन्धित इत्र है हृदय की शुभ-गुण-सम्पदा। नामदेव ने एक अभंग में 'मैया विठाई ने मुझे कैसा सजाया है' इसका वड़ा सुन्दर वर्णन किया है। जिस प्रकार माँ अपने वच्चे के वाहरी अंगों को सजाती है, विलकुल वैसा ही अन्तरंग शृङ्गार का वर्णन उसमें है। वाह्य शृङ्गार की अपेक्षा अन्तःशृङ्गार से जीवन की शोभा विशेष वढ़ेगी। शोभा का स्थूल रूप छोड़िये और सूक्ष्म रूप गहिये। आनन्द कामना में नहीं, कामना-तृप्ति में होता है। कामना स्थूल रही तो उसकी तृप्ति कठिन होती है, क्योंकि तव वाहरी साधन जुटाने पड़ते हैं। वही सूक्ष्म रही तो तृप्ति में कठिनाई कम होती है, क्योंकि अपने आन्तरिक साधनों से ही वह तृप्त हो जाती है। इस तरह कामना अन्तर्मुख तथा सूक्ष्म होते-होते अन्त में विलकुल नष्ट हो सकती है, या होनी चाहिए। यह ज्ञान-योग की युक्ति है।

**२०. ज्ञान-योग की सूक्ष्म प्रक्रिया**

( ४ ) विशुद्ध प्रक्रिया : इस प्रक्रिया में हम वासना के व्यक्तिगत

और सामाजिक अथवा स्थूल और सूक्ष्म ऐसा भेद नहीं करते।

**२१. भक्ति-योग की विशुद्ध प्रक्रिया**

शुभ वासना और अशुभ वासना—ऐसा भेद करते हैं। मात्र अच्छी वासनाओं को रखिये, बुरी को त्याग दीजिये। यदि मीठा खाने की इच्छा हुई तो मिठाई न खाकर आम खा लीजिये। मिठाई से नुकसान हो सकता है, उससे रजोगुण भी बढ़ेगा। पर आम स्वास्थ्य के लिए अच्छा होता है और उससे सत्त्वगुण भी बढ़ेगा। इस प्रक्रिया में हम आरंभ में ही वासना को मारने के लिए नहीं कहते। कहना यही है कि अशुभ को छोड़ो और शुभ को गहो। शुभ कौन और अशुभ कौन, इसका निर्णय हर कोई अपनी बुद्धि से करे। अपना मत अपने लिए प्रमाण। कुछ वासनाओं की शुभाशुभता का निर्णय विज्ञान की सहायता से किया जा सकेगा। कुछ वासनाओं के सम्बन्ध में यद्यपि विज्ञान की सहायता से ऐसा विवेक किया जा सके तो भी अन्त में शुभ क्या और अशुभ क्या, इसका निर्णय, हर किसीको अपने विचार से ही करना पड़ेगा। अशुभ वासनाओं का त्याग और शुभ वासनाओं की पूर्ति करते-करते मन शुद्ध होकर वासना ही उड़ जायगी। यह कामना-नाश की विशुद्ध प्रक्रिया है।

इन चारों प्रक्रियाओं में अंत की यह विशुद्ध प्रक्रिया सबमें निरापद अतः सबसे उत्तम है और प्रायः भक्तियोग ने उसीको स्वीकार किया है। अन्य प्रक्रियाओं में शक्ति है,

**२२. विशुद्ध प्रक्रिया सब प्रकार से सुरक्षित**

पर खतरा भी बहुत है। विस्तारक प्रक्रिया में कामना को सामाजिक बनाने के लिए कहा गया है, पर वह कामना ही अशुभ रही तो? किसीको मदिरा पीने की ही इच्छा हुई तो इस प्रक्रिया के अनुसार उसे मदिरा पीने का सार्वजनिक क्लब खोलना चाहिए। परन्तु इससे उसका और समाज का भी अधः-पतन होगा। केवल सामाजिक बना देने से वासना शुद्ध होती ही है सो बात नहीं। एकाग्र प्रक्रिया में भी वही खतरा है। जिस वासना पर चित्त

एकाग्र करना है; यदि वही अशुभ हो तो सभी खत्म हुआ। चित्त की एकाग्रता योग-शास्त्र का विपय है। उसमें पतंजलि ने ऐसा संकेत कर रखा है कि ध्यान-योग का आचरण यम-नियम-पूर्वक ही करना चाहिए, नहीं तो उससे अनर्थ होगा और ध्यानयोग तारक होने के वजाय मारक हो रहेगा। सामाजिकता और एकाग्रता में शक्ति है अवश्य, परन्तु वह यदि अयोग्य हुई तो उससे मनुष्य राक्षस ही वन जायगा। सूक्ष्म प्रक्रिया भी सुरक्षित नहीं। वासना सूक्ष्म होने पर पवित्र ही होगी, ऐसी वात नहीं। किसीको काम-वासना ने घेर लिया और वह यदि अमूर्त काम का ही चिन्तन करने लगे तो वह कदाचित् अधिक ही भयानक हो जायगा। अतः भक्तियोग द्वारा अंगीकृत यह 'विशुद्ध प्रक्रिया' सवसे सुरक्षित है। इसीलिए तुलसीदासजी ने कहा है "भगति सुतंत्र अवलम्ब न आना।" अन्य साधनों के खतरे दूर करने के लिए उन्हें भक्तियोग का आधार आवश्यक होता है। भक्ति को दूसरा अवलम्ब नहीं चाहिए। अन्य साधन शक्तिशाली हैं, पर खतरे से भरे हुए भी हैं। एक ओर शक्ति है तो दूसरी ओर सुरक्षितता। भक्ति और शक्ति में यही भेद है। भक्ति को यदि शक्ति का साथ न रहा तो वह दुर्वल होगी, परन्तु अपवित्र और मारक नहीं। इसके विपरीत यदि शक्ति को भक्ति का साथ न रहा तो वह सर्वनाश ही कर डालेगी। भक्ति किसी भी अवस्था में अकल्याण न करेगी। अतः भक्तियोग द्वारा मान्य कामना-नाश की विशुद्ध प्रक्रिया सव प्रकार से सुरक्षित और अनुकूल है। 'धर्माऽविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि' वाक्य से वही सूचित है। ०

# तीसरा व्याख्यान

## १

स्थितप्रज्ञ की एक परिपूर्ण व्याख्या हुई। आगे के तीन श्लोकों में इस व्याख्या का उत्तरोत्तर सुलभ विवरण किया गया है। इनमें से पहले श्लोक में स्थितप्रज्ञ की व्याख्या का मानसशास्त्रीय विवरण है।

**२३. स्थितप्रज्ञता के सुलभ साधन : (अ) सुख-दुख सह लो**

**दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।**
**वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥**

व्याख्या का निदर्शक 'उच्यते' शब्द यद्यपि श्लोक में आया है, तथापि यहाँ व्याख्या की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि व्याख्या तो पहले ही की जा चुकी है। स्थितप्रज्ञ की शास्त्रीय व्याख्या में सर्व कामनाओं का समूल त्याग अपेक्षित है, परन्तु वह इतना सरल नहीं है। अत: अब इस श्लोक में स्थितप्रज्ञ का अपेक्षाकृत सरल लक्षण बताया गया है। अनिष्ट की प्राप्ति पर उद्वेग न होने देना चाहिए। उद्वेग होने देने का अर्थ है— त्रस्त होकर थक जाना। इस शब्द में ही यह अर्थ निहित है। 'उत्' का अर्थ है ऊपर, 'वेग' के मानी हैं 'गति'। ऊपर चढ़ते हुए जैसे बैलों को कष्ट होता है, नाकोंदम हो जाता है, वैसी हालत न होनी चाहिए। दु:ख को धैर्य से सहना चाहिए। उसके सामने घुटने न टेकने चाहिए। दु:ख की तरह सुख को भी सावधानी से सहना चाहिए। मनुष्य नहीं चाहता कि दु:ख हो। अत: उससे वह भुलावे में नहीं आ सकता; उसे तो धीरज से सह लिया कि बस। परन्तु सुख तो मनुष्य चाहता है। वह मन को भुलावे में डालता है। अत: सुख में खतरा है। सुख की लालसा सुख-संबंधी गलतफहमी का परिणाम है। अत: जब सुख आये तो सावधान होकर मन को रोक लेना चाहिए। दु:ख आने पर धैर्य रखना चाहिए। सुख आने पर उसमें मन को लिप्त न

होने देना चाहिए। उसे रोक रखना चाहिए। उतार पर बैल दौड़ना चाहता है। इसी तरह सुख के समय मन की वृत्ति दौड़ने लगती है। अतः उसे रोक रखने की जरूरत है। यह काम उतना कठिन नहीं है। कामना-त्याग की दृष्टि से बहुत ही सरल है। यहाँ कामना के दो रूप बताये गये हैं—सुख का वांछनीय मालूम होना और दुःख का अवांछनीय लगना। यहाँ दोनों का संयम बताया गया है।

जैसे कामना के दो प्रकार हैं, वैसे उसके तीन परिणाम होते हैं: ( १ ) तृष्णा ( २ ) क्रोध ( ३ ) भय। अनुकूल वेदना से तृष्णा उदित होती है, प्रतिकूल वेदना से क्रोध। भय भी क्रोध का ही, प्रतिकूल वेदना का ही, एक रूप है। परन्तु हमारे मन में जीवित रहने की एक विशेष आसक्ति रहती है, जिससे भय-वृत्ति क्रोध से अलग मानी गयी है। हमारी जिजीविषा ( जीने की इच्छा ) पर आघात होते ही भीति उत्पन्न होती है। यह वृत्ति सभी प्राणियों में स्वरसवाही अर्थात् रक्त में मिली हुई है। जीवन के उच्छेद का प्रसंग आते ही वह जाग उठती है। अत्याचारी लोगों ने इस भय-वृत्ति से भरपूर लाभ उठाया है। उन्होंने लोगों को भय दिखाकर ही गुलाम बनाया है। तोप, बन्दूक आदि शस्त्रास्त्रों की अपेक्षा उनके शासन का वास्तविक आधार यह भय-वृत्ति ही है। अतः तृष्णा और क्रोध-वृत्तियों को मिटाने के लिए जैसे स्वतंत्र साधना करनी पड़ती है, वैसे ही भय-वृत्ति को जीतने के लिए भी स्वतंत्र साधना जरूरी है। तृष्णा, क्रोध और भय—इन तीनों वृत्तियों के नष्ट हो जाने पर प्रज्ञा स्थिर होती है। ये वृत्तियाँ बुद्धि पर आघात करती हैं, अतः उनका निरास यहाँ बताया गया है। इस तरह इस श्लोक में स्थितप्रज्ञ की स्थिति का मानसशास्त्रीय विवेचन किया गया है। इसके आगे के श्लोक में यह बताया गया है कि प्रत्यक्ष कर्मयोग का आचरण करते हुए संयम कैसे साधा जाय।

**२४. (आ) वृत्ति न उठने दो**

**यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।**
**नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥**

'यः सर्वत्र अनभिस्नेहः'—मन को कहीं भी उलझने न दें। मन को कहीं भी न तो चिपकाओ, न लिप्त होने दो, न टिकने दो या घर बनाने दो। मनुष्य का मन कहीं-न-कहीं चिपकता है। किसीका पुस्तक में चिपकता है, तो किसीका खेत में उलझा रहता है। यहाँ यह कहा गया है कि उसे कहीं भी उलझने मत दो। इससे पहलेवाले श्लोक में कहा है कि बुरे या अशुभ का दुःख मत होने दो, अच्छे या शुभ का सुख मत लगने दो। यहाँ उससे सरल साधन बताया है। यह नहीं कहा कि अच्छा मिले तो सुख मत मानो; भले ही सुख हो, इसमें हर्ज नहीं है, पर उस पर लट्टू मत हो। हर्षित न हो उठो। उछलो मत। तालियाँ मत पीटो। उसका अभिनन्दन मत करो। लड़का पैदा हो तो अच्छा मालूम होगा; होने दो, परन्तु मिठाई मत बाँटो। शादी हुई तो अच्छा लगेगा; कोई हर्ज नहीं, पर गाजा-बाजा मत करो। इतना ही यहाँ कहा है। इसी तरह बुरा प्राप्त हुआ तो बुरा लगा। हर्ज नहीं, लगने दो; पर मन में संताप न होने दो। वह इतना तीव्र न हो जाय कि बुद्धि को विकारों की आँच लगने लगे। तीव्र विकार बुद्धि पर आघात करते हैं। बुद्धि सही-सलामत रहनी चाहिए। चाणक्य का एक वचन है—मेरा सब कुछ चला जाय, पर बुद्धि कायम रहे—'बुद्धिस्तु मा गान् मम।' बुद्धि सलामत रखो। कर्मयोगी प्रत्यक्ष व्यवहार में कैसा बरते, इसका यह विवरण हुआ। मनुष्य की वृत्ति में यदि थोड़ी भी गम्भीरता हो तो उसके लिए यह सहज सधने जैसा है। यदि बन्दर जैसी वृत्ति रही तो संयम नहीं सधेगा। बन्दर आनन्द से किलकिलाने लगते हैं, दुःख से किचकिचाते हैं। ऐसी वृत्ति न हो। थोड़ी गम्भीरता हो, तो यह कठिन न मालूम होगा।

**२५. स्थितप्रज्ञता का सुलभतर साधन : वृत्तियों के साथ न बहो**

संयम को और भी सुलभ तथा स्पष्ट करने के लिए अगले श्लोक में कछुए का उदाहरण देकर इंद्रिय-निग्रह बताया है।

**२६. स्थितप्रज्ञता का सुलभतम साधन : इंद्रिय-नियमन**

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

जैसे कछुआ अपने अवयवों को समेट लेता है, वैसे ही अपनी इंद्रियों को विषयों से समेट लो । यों कछुआ अपने सभी अवयवों को फैलाकर चलता है, परन्तु खतरा मालूम होते ही उन्हें सिकोड़ लेता है । उसी तरह जहाँ खतरा हो वहाँ आप अपनी इंद्रियों को भीतर खींच लें । जहाँ उनका पारमार्थिक उपयोग होता हो, वहाँ उन्हें खुला रहने दो । यह साधन और भी सरल है । जहाँ खतरा दीखे, वहाँ पीछे हट जाओ । जहाँ खतरा न हो, वहाँ आजाद छोड़ दें । कितना सीधा-सादा है यह ! यह तो पशु भी समझते हैं । इसीलिए कछुए का उदाहरण दिया है । जब कछुआ-जैसा जानवर भी इस तरह बरतता है तब आप-हम तो मनुष्य हैं, यह गीता का संकेत है ।

२

**२७. इन्द्रिय-नियमन वस्तुतः कठिन नहीं**

परन्तु जो बात यहाँ सरल बतायी गयी, वह भी हमें कठिन मालूम होती है । मुख्यतः यह बात आदत की है । छोटे बच्चे को यदि शुरुआत से ही ऐसा अभ्यास हो जाय, तो गीता उसका स्वभाव ही बन जायगी । बात सिर्फ अभ्यास—आदत की है । कहते हैं, गीता तो मनुष्य-स्वभाव से विरुद्ध चलने के लिए कहती है । बिलकुल नहीं । छोटे बच्चे की नैसर्गिक रुचियाँ शुद्ध ही रहती हैं । हम जबरदस्ती उसकी जीभ में चाहे जैसी, पदार्थों की, रुचि उत्पन्न करते हैं । उसकी रुचि को विकृत और कृत्रिम बनाते हैं । गीता कहती है कि छोटे बच्चे को स्वभावतः जो अच्छा लगता है, वह सुलभ है, वही कीजिये । हम छोटे बच्चों को कुशिक्षा देकर पहले उनकी रुचि बिगाड़ देते हैं । इसीलिए बाद में उलटी शिक्षा देकर उसे सुधारना पड़ता है । शुरू में कुशिक्षा देकर इंद्रियाँ नखरीली बना दी जाती हैं, इसलिए फिर उन्हें काबू में रखना कठिन मालूम होता है । यदि शुरू से ही अच्छी

आदत डाली जाय तो इंद्रिय-संयम सुलभ होगा। ज्ञानदेव कहते हैं, "मेरी इंद्रियों का स्वभाव ही ऐसा बन गया है कि जो न देखना चाहिए उसकी तरफ आँख ही नहीं जाती; जो सुनने योग्य नहीं है उसे कान सुनते ही नहीं।" यह बात कठिन क्यों लगनी चाहिए? यदि यह मालूम हो जाय कि यहाँ आग है तो क्या हाथ उधर जायगा? बल्कि यदि आग में हाथ डालना ही पड़े तो विचार से मन को समझाकर ही डालना होगा। इसी तरह मन को जहाँ निश्चय हो जाय कि यहाँ खतरा है तो उधर इंद्रियाँ जायँगी ही नहीं। वास्तव में तो खतरे की जगह इंद्रियों को ढीला छोड़ना ही कठिन मालूम होना चाहिए। परन्तु कुशिक्षा ने हमारी स्थिति इसके बिलकुल विपरीत कर डाली है। जो कठिन या अस्वाभाविक है, वही हमें सहज और सरल मालूम होता है। उसका गीता क्या करे! गीता ने तो ऐसा एक साधन बता दिया है, जो उसकी दृष्टि से एक बच्चे के लिए भी सरल है। निःसंदेह समाज की अवस्था स्वाभाविक हो तो उसमें इंद्रिय-जय कठिन न मालूम होगा।

पर इंद्रिय-जय की दो विधियाँ बतायी जाती हैं—इंद्रिय-संयम और इंद्रिय-निग्रह। इन दो प्रकारों पर थोड़ा विचार कर लें। इंद्रिय-निग्रह कुछ समय के लिए होता है। इंद्रिय-संयम सारे जीवन का तत्त्व है। मान लीजिये, मुझे मीठा खाने का शौक है।

**२८. इन्द्रिय-नियमन के दो प्रकार: संयम और निग्रह**

मीठा खाना बुरा ही है, ऐसा नहीं। हाँ, मीठे का मोह बुरा है। अतः मैं कुछ समय के लिए मीठा खाना बिलकुल छोड़ देता हूँ। इसका उद्देश्य है अपने को शिक्षित करना, आदत लगाना, दान्त करना। इंद्रियों को दान्त करने के लिए, काबू में लाने के लिए, कुछ समय तक हमें उनका निग्रह करना पड़ता है। मीठा खाना ही तो गुनाह नहीं। स्वास्थ्य के लिए कुछ मीठा खाना आवश्यक भी हो सकता है। परन्तु मीठे के शौक को बस में करने के लिए कुछ समय तक मैंने उसका निग्रह किया। उसके बाद मैं फिर मीठा खाने

लगता हूँ, परन्तु सँभलकर और तौलकर। इसे संयम कहेंगे। इसी तरह मौन का उदाहरण लीजिये। मौन कुछ काल तक करने का साधन है; मित-भाषण नित्य का साधन है। इसी तरह उपवास नैमित्तिक साधन है; नियमित और नियत खान-पान करना नित्य साधन है। मनुष्य की कसौटी भी इसीमें है। गुजराती में एक मार्मिक कहावत है, 'माणसनी परीक्षा खाटले ने पाटले'। पाट पर और खाट पर, अर्थात् भोजन के समय और बीमारी के समय ही, मनुष्य की परीक्षा होती है। भोजन और बीमारी ये ऐसे अवसर हैं, जब मनुष्य के स्वभाव के सभी दोष प्रकट हो जाते हैं। मनुष्य एक बार वेशुमार खा सकता है, या कभी बिलकुल ही भूखा रह सकता है, परन्तु तौलकर उचित मात्रा में खाना नहीं सधता। दोनों सिरे सध जाते हैं; परन्तु मध्यम अवस्था नहीं सधती। इंद्रियों को मध्य में रखना संयम है। इसके लिए कभी-कभी इंद्रियों को दूसरे सिरे पर ले जाना पड़ता है, यह निग्रह हुआ। निग्रह का लाभ स्पष्ट ही है, परन्तु वह नित्य धर्म नहीं है।

**२९. उनका और अधिक विवरण**

हमने जो यह भेद किया है कि निग्रह प्रासंगिक है और संयम नित्य है, यह सिर्फ तारतम्य से उनके अन्दर-ही-अन्दर किया है, ऐसा समझना चाहिए। क्योंकि थोड़ा विचार करने से यह समझा जा सकता है कि निग्रह भी संयम की तरह नित्य हो सकता है। हमने देखा कि उपवास प्रासंगिक और मिताहार नित्य है। परन्तु मान लीजिये कि किसी व्यक्ति ने रोज अमुक समय ही खाने का नियम किया है—और नियम इष्ट ही होता है—अब बीच में ही यदि किसीने उसे कुछ खाने को दिया, तो वह नहीं खायेगा। यह निग्रह हुआ। परन्तु यह स्पष्ट है कि वह प्रासंगिक न होकर नित्य का कहा जायगा। यही बात मौन की है। मौन आमतौर पर प्रासंगिक तो होता है, परन्तु वाणी का निग्रह करने के अवसर रोज आना सर्वथा संभव है। किसीने कुछ कह दिया; तो उसका उत्तर देने के बदले अपने बोलने

के वेग को रोक लेना ही बहुत बार जरूरी हो जाता है। वाणी का यह निग्रह नित्य की ही वस्तु हो गयी। इसका यह अर्थ हुआ कि निग्रह और संयम का अभ्यास वस्तुतः रोज ही करना पड़ता है। उसमें अन्तर केवल तारतम्यमूलक है। वास्तव में मूलतः दोनों एक ही हैं। निग्रह और संयम दोनों में एक वस्तु समान है—अपने पर अंकुश। सार यह कि संयम और निग्रह का सूक्ष्म भेद जानकर बाद में उसे भूल जाना ही अच्छा है, परन्तु 'निग्रह' शव्द के संबंध में कुछ और स्पष्टीकरण आवश्यक है। लगता है कि निग्रह में बलात्कार का भाव तो नहीं आता? परन्तु 'इंद्रिय-निग्रह' शव्द में ऐसा बलात्कार नहीं सूचित किया गया है। शब्द को अर्थ का बोझ नहीं लगता। अतः वह अनेक अर्थों में यथावसर व्यवहृत होता है।

यहाँ स्थितप्रज्ञ का मुख्य लक्षण और उसके तीन विवरण पूरे हुए। अगले दस श्लोकों में इस विवरण के अंतिम क्रियात्मक सुलभ साधन इंद्रिय-जय का निरूपण है। गीता को यह इतना महत्त्वपूर्ण लगता है कि अनेक अध्यायों में स्थान-स्थान पर उसका विवेचन हुआ है। तीसरे अध्याय में कर्मयोग के विवेचन के बाद 'इंद्रिय-जय' का एक स्वतंत्र प्रकरण ही जोड़ा गया है। यहाँ अब इस विषय का विज्ञान और तत्त्वज्ञान दोनों बताना है। 'कैसे' का उत्तर विज्ञान देता है; 'क्यों' को तत्त्वज्ञान हल करता है। 'इंद्रिय-निग्रह' कैसे करें, और क्यों करें, अर्थात् प्रज्ञा की स्थिरता से उसका क्या संबंध है, इन दोनों का विचार अब आगे किया जा रहा है। ●

**३०. इन्द्रिय-जय का गीता की दृष्टि में महत्त्व**

# चौथा व्याख्यान

## १

स्थितप्रज्ञ के लक्षण वस्तुतः पहले चार श्लोकों में ही पूरे हो गये। अब इन्द्रिय-निग्रह के विज्ञान और तत्त्वज्ञान पर विचार करें।

**३१. इन्द्रिय-जय के विज्ञान की प्रस्तावना**

पहले तीन श्लोकों में विज्ञान बताया जायगा। अब तक उत्तरोत्तर सरल साधन बताये गये। ( १ ) पहले कहा—कामना छोड़ ही दो। ( २ ) फिर कहा—कामना का परिणाम मत होने दो; तृष्णा, क्रोध और भय इनमें उसका पर्यवसान मत होने दो। ( ३ ) फिर बताया—परिणाम हो भी तो उसे काबू में रखो, बुद्धि पर उसका आक्रमण मत होने दो। और ( ४ ) अन्त में कहा कि इन्द्रियों को ही समेटो। इस तरह भिन्न-भिन्न व्यूहों के द्वारा उनका विवरण किया, ताकि पता चले कि साधना का श्रीगणेश कैसे किया जाय। इसका यह अर्थ नहीं कि साधन की अन्तिम सीढ़ी तक पहुँचे विना स्थितप्रज्ञता प्राप्त हो जायगी। अन्त में इन्द्रियों को समेटना तो सिर्फ इसलिए कहा गया है कि वह सबमें सुलभ साधन है। परन्तु निग्रह और संयम दोनों से इन्द्रियाँ वश में कर लें, तो इतने से मनुष्य स्थितप्रज्ञ नहीं हो सकता। यही क्यों, वल्कि वस्तुतः इतने से तो इंद्रिय-जय भी पूरा नहीं होता। इंद्रियों पर काबू पाना आने पर उनके सहारे भीतर की सारी कामना ही काटकर फेंक देना है। 'मैं जैसा संकल्प करूँगा, वैसा ही इंद्रियाँ आचरण करेंगी'—इस अनुभूति से प्राप्त शक्ति के सहारे कामना का वीज ही निकाल फेंकना है। जब यह कामना-वीज नष्ट हो जायगा, तभी हम समझेंगे कि इंद्रिय-निग्रह सफल हुआ। इंद्रिय-निग्रह का हमारा माप इतना सूक्ष्म है, और वही अब एक श्लोक में बताया जाता है। इन्द्रिय-निग्रह के विज्ञान का यह आरंभ है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥

"निराहार की साधना से विषय छूट जाते हैं, परन्तु रुचि शेष ही रह जाती है। वह भी फिर पर-दर्शन से निवृत्त होती है।" यह इस श्लोक का भावार्थ है। विषय छूट गये, विषयों से इंद्रियों को समेट लिया, तो इतने ही से यह न समझना चाहिए कि इंद्रिय-जय पूर्ण हो गया। 'निराहार' शब्द के आहार का अर्थ 'रसना का आहार' तो है ही, परन्तु इसके अलावा 'सब इन्द्रियों के भोग' ऐसा व्यापक अर्थ भी लेना होगा। अर्थात् यह शब्द यहाँ उपलक्षणात्मक है। इंद्रियों के आहार का निग्रह—यह प्राथमिक साधना है। इससे साधना समाप्त नहीं हो जाती। वह तो सिर्फ शुरुआत है। बाह्य इंद्रिय-निग्रह हो जाने से अब भीतरी रस छोड़ने की तैयारी करने की योग्यता और शक्यता प्राप्त हुई। वास्तविक अर्थात् आन्तरिक साधना की शुरुआत हो गयी। भीतरी रुचि जब मिट जायगी तभी साधना पूरी होगी। बाह्य इंद्रिय-निग्रह आंतरिक रुचि छोड़ने की शक्यता उत्पन्न करता है, इसीलिए गीता ने स्थितप्रज्ञ के लक्षणों में उसका समावेश किया है।

**३२. निराहार प्राथमिक साधना, रस-निवृत्ति पूर्णता**

दार्शनिक दृष्टि से कहना हो तो सिर्फ इतना ही बताना काफी है कि सभी कामनाएँ छोड़ दो। आरम्भ की स्थितप्रज्ञ की व्याख्या दार्शनिक की भाषा में की गयी। परन्तु दार्शनिकों का ढंग और है और शिक्षक का ढंग और। शिक्षक विद्यार्थी की भूमिका और अधिकार का खयाल करके बोलता है। वह यह तो जताकर कह देता है कि अंतिम साधना पूर्ण हुए बिना डिप्लोमा नहीं मिलेगा; परन्तु साथ ही यह भी बताता है कि आज का पाठ क्या होगा। अर्थात् एक ओर शास्त्रीयता को कायम रखकर भी और दूसरी ओर दयालु

**३३. पूर्ण व्याख्या के साथ ही प्राथमिक साधना की दर्शक गीता की गुरु-दृष्टि**

होकर ऐसा भी साधन बताता है, जिससे विद्यार्थी को आशा मालूम हो और धीरज बँधे। गीता की पद्धति भी इसी प्रकार वत्सलतापूर्ण है। कछुए का उदाहरण पहला पाठ है। एक पाठ के बाद दूसरा पाठ, इस तरह गुरु-माता के वात्सल्य की तरह गीता एक-एक कदम आगे ले जाती है। दयालु सन्तों ने तो यहाँ तक आश्वासन दे दिया है कि जिसने भक्तिपूर्वक एक बार भी ईश्वर का नाम ले लिया वह मोक्षाभिमुख हो गया। उसका मुँह सही दिशा की ओर मुड़ गया। यह बात नहीं कि इससे वह मंजिल पर पहुँच गया, परन्तु दिशा मिल गयी तो आशा मालूम होने लगती है। आशा बढ़ाते-बढ़ाते मुकाम तक पहुँचा देना गुरु-दृष्टि की विशेषता है।

**३४. प्राथमिक साधना स्पष्ट ही अपूर्ण, परन्तु इसलिए ढोंग नहीं**

असल में कहना यह है कि जब तक भीतर का रस नष्ट न हो तब तक प्रयत्न जारी रखना चाहिए। तब तक क्या करें? तब तक बाहर से इंद्रियों को समेटना ही है। इस पर कुछ लोग कहते हैं, यह तो ढोंग हुआ। सो, जिन्हें आत्म-नाश करना हो, वे ऐसे तार्किकों के चक्कर में पड़ें। यदि कोई साधक पर ढोंग का इल्जाम लगाना ही चाहे तो वह भी उस समय साबित हो जायगा; क्योंकि साधना पूर्ण होने तक उसका केवल प्रयत्न ही जारी रहनेवाला है। तब तक उसकी मनोवस्था और आचार में फर्क दिखायी ही देगा। वह प्रार्थना में बैठेगा तो भी मन इधर-उधर दौड़ता रहेगा। तो कहते हैं—"वह प्रार्थना ही न करे। प्रार्थना तो ढोंग है।" साधक पर ऐसा आरोप उसी समय साबित होगा, जब यह सिद्ध किया जा सके कि वह लोगों को बताने के लिए प्रार्थना का दिखावा करता है। पर वह ऐसा तो करता नहीं। जब ढोंग की नीयत न हो तो उसे ढोंग कैसे कहेंगे! कोई-कोई गीता के इसी श्लोक से यह अर्थ निकालना चाहते हैं कि जब तक मन वशीभूत न हो सके तब तक इंद्रियों को रोकना ढोंग है, परन्तु यह ठीक नहीं है। 'रसस्त्वस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' यदि ऐसी भाषा होती तो शायद

ऐसा अर्थ किया भी जा सकता; परन्तु यहाँ तो 'रसोऽपि' कहा है।
'अपि' शब्द से इंद्रियों को समेटने का भी महत्त्व सूचित हो जाता
है। परंतु इतने से साधना पूर्ण नहीं होती; रस अर्थात् रुचि निर्मूल
होनी चाहिए। इतना अर्थ उसमें भरा हुआ है। जब तक रुचि नहीं
मिटती तब तक जो इंद्रिय-निग्रह होगा उसे चाहें तो असमर्थ कह
सकते हैं, पर ढोंग तो हरगिज नहीं। इंद्रिय-निग्रह का स्थूल और
सूक्ष्म इस तरह दुहरा अर्थ है। दोनों प्रकार का निग्रह करके अन्त
को उसे स्थितप्रज्ञ की मूल व्याख्या तक जा पहुँचाना है।

**३५. साधना की पूर्णता पर-दर्शन, अर्थात् आत्म-दर्शन**

जब तक आंतरिक रुचि नहीं मिटती तब तक सूक्ष्म अर्थ में इंद्रिय-
निग्रह नहीं सध सकता। यह रुचि कैसे मिटे? इसका उत्तर दिया
है—पर-दर्शन से, आत्म-दर्शन से। पर-
तत्त्व का अर्थ है—सबसे परले पार का
तत्त्व। वस्तुतः वह तत्त्व सबसे परले पार
का नहीं, बल्कि बिलकुल इस पार का है। वह पर-तत्त्व नहीं, स्व-
तत्त्व है। परन्तु उलटी ही भाषा चल पड़ी है। इसका कारण यह है
कि हम शरीर से अर्थात् बाह्य तत्त्व से गिनती शुरू करते हैं। शरीर
सबसे बाहरी है, उसे सबसे नजदीक का मानते हैं। उसके बाद मन,
उसके बाद बुद्धि और बुद्धि के भी बाद आत्मा—ऐसी उलटी गिनती
से जो सबसे नजदीक का है, वह सबसे दूर का हो रहता है।
'इन्द्रियाणि पराण्याहुः इन्द्रियेभ्यः परं मनः' इत्यादि वचनों में गीता
ने ऐसी भाषा को अपनाया दीखता है। परंतु वहाँ 'परं' शब्द का
अर्थ 'श्रेष्ठ' अथवा 'सूक्ष्म' समझा जाय। सबसे सूक्ष्म, सबसे श्रेष्ठ,
सबसे पास, आत्मा है। उसका दर्शन हुए बिना इन्द्रिय-निग्रह पूरा
नहीं होता। अर्थात् जो बात पहले श्लोक में कही थी, वहीं लाकर
फिर छोड़ दिया।

## २

इस पर सहज ही कोई कहेगा कि "वाह! उत्तरोत्तर सरल

**३६. इंद्रियों का उद्दण्ड स्वभाव : मनु का एतद्विषयक वचन**

साधन बताता हूँ, ऐसा आश्वासन देकर हमको खूब फँसाया—पहले मिठाई दिखाकर फिर डण्डा दिखाया।" भीतरी रस, मिठास, स्वाद छोड़ना सरल नहीं। यह कैसे सधेगा? अब इसीकी प्रक्रिया बतानी है। परन्तु इससे पहले आक्षेपकों के आक्षेप को ही भगवान् एक श्लोक में दृढ़ करते हैं—

**यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।**
**इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥**

इसका अर्थ है—"प्रयत्नशील और विचारवान् मनुष्य की इन्द्रियाँ तक जोर मारकर उसके मन को खींच ले जाती हैं।" ऐसा ही एक वचन मनु का भी है। अनेक लोग उसका और गीता के इस श्लोक का एक ही अर्थ करते हैं।

**'मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।**
**बलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥'**

यह मनु का वचन है। इसका भावार्थ है—"मनुष्य को चाहिए कि वह माँ, बहन और लड़की के विषय में भी सावधान रहे; क्योंकि इन्द्रियाँ बलवान् होती हैं और मौका पड़ने पर विद्वान् को भी खींच ले जाती हैं।"

परन्तु मनु के इस वचन का वस्तुतः गीता के वाक्य के साथ मेल नहीं बैठ सकता। मनु ने साधारण मनुष्य के लिए व्यवहार की

**३७. मनु की और गीता की भूमिका समान नहीं**

सामाजिक मर्यादा बतायी है और गीता का विवेचन आध्यात्मिक दृष्टि से किया गया है। "मनुष्य को अपने पर जरूरत से ज्यादा विश्वास न रखना चाहिए। बाह्यतः भी इन्द्रिय-निग्रह उससे हो ही सकेगा, यह नहीं कह सकते।"—यह आशय मनु का है। उन्होंने सर्व-साधारण के लिए अपनी दृष्टि से और तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार एक सुरक्षित सामाजिक नियम

बतलाया। किन्तु गीता का वाक्य साधक के लिए है, और उसमें वैसा अविश्वास नहीं दिखाया गया है। गीता साधकों के बारे में यह नहीं कहना चाहती कि तुमसे स्थूल अथवा बाह्य इन्द्रिय-निग्रह भी नहीं सध सकता। यहाँ यह गृहीत माना गया है कि इन्द्रियों को बाह्यतः रोककर हम निराहार हो सकेंगे। गीता को यह मान्य है कि हम चाहें तो विषयों से इन्द्रियों को हटा सकते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि ऐसा कहती है कि ऐसा अवश्य करना चाहिए। मनु तो इतनी भी अपेक्षा नहीं रखते। वह तो केवल साधारण मनुष्य को सावधानी का एक संकेत करके छुट्टी पा लेता है। लेकिन यहाँ गीता का आशय भिन्न है। यहाँ यह आध्यात्मिक विचार प्रस्तुत किया गया है कि इन्द्रियों को विषयों से हटा लेने पर भी वे हार न खाकर मन पर हमला करती हैं। बाहरी विषयों से इन्द्रियाँ हटा ली जायँ तो भी वे मन में आसन जमाकर बैठ जाती हैं। इसीसे इच्छा न रहते भी मानसिक विषय-सेवन होने लगता है। परिणामस्वरूप सूक्ष्म इन्द्रिय-निग्रह नहीं होता— इतना ही गीता कहती है।

**२८. ज्ञानी और प्रयत्नवान् मनुष्य के मन को भी इन्द्रियाँ खींच सकती हैं**

जो अच्छी तरह विचारपूर्वक प्रयत्न करता है, उसका भी यह हाल हो जाता है। 'यततो ह्यपि', 'विपश्चितः अपि' इस तरह 'अपि' शब्द दोनों जगह लेना है। 'विपश्चित्' शब्द में 'विपः' और 'चित्' ये दो शब्द हैं। 'विपः' 'विप्' शब्द की द्वितीया का बहुवचन है। 'विप्' ज्ञानार्थक धातु है। यही 'विप्र' शब्द में है। 'विप्र' यानी ज्ञानी। 'विपश्चित्' यानी अनेक ज्ञानों को जाननेवाला, ज्ञाता। 'ऐसा ज्ञाता भी है और प्रयत्नशील भी है, किन्तु उसके लिए भी 'सूक्ष्म इन्द्रिय-जय' साधना कठिन होता है; क्योंकि इन्द्रियाँ उसके मन को भी लुभाना चाहती हैं।' ऐसा भाव यहाँ गीता का है।

ज्ञान और तितिक्षापूर्वक प्रयत्न, यही दो शक्तियाँ मनुष्य के पास हैं,

तीसरी कोई शक्ति उसके पास है ही नहीं। अब यदि यह कहा जाय कि मनुष्य को उपलब्ध ये दोनों शक्तियाँ लगा देने पर भी इन्द्रियाँ सिरजोर होकर मन पर काबू जमा लेती हैं; तो फिर मुश्किल ही समझना चाहिए।

**३६. परन्तु ज्ञान और तितिक्षापूर्वक प्रयत्न, यही दो शक्तियाँ मनुष्य के पास हैं।**

यत्नवान् विपश्चित् पुरुष का अर्थ हुआ तत्त्वज्ञान और तितिक्षा इन दोनों शक्तियों से सम्पन्न पुरुष। दूसरे अध्याय में आरम्भ में ही इसी पुरुष को 'धीर' संज्ञा दी गयी है। 'धीर' शब्द का अर्थ दो तरह से किया जाता है। 'धी' अर्थात् बुद्धि और 'धीर' यानी बुद्धिमान्, ज्ञानी। परन्तु अकेले ज्ञान से साधना पूरी नहीं होती। ज्ञान तो है, पर सहन करने की शक्ति अर्थात् तितिक्षा नहीं है तो मनुष्य टिक नहीं सकेगा। मनुष्य को अत्यन्त दारुण यन्त्रणा देने पर यह कहना कठिन है कि कोरे ज्ञान-बल से वह अन्त तक सब सह सकेगा। एक वैज्ञानिक की कथा प्रसिद्ध है : 'पृथ्वी घूमती है'—यह प्रतिपादन करने के कारण उसे बहुत सताया गया। तब उसने कहा—"लाओ, आप लोग जो कहेंगे उस पर दस्तखत कर देता हूँ।" वे लोग 'पृथ्वी नहीं घूमती है' इस आशय के मजमून पर सही कराना चाहते थे। अधिक कष्ट सह न सका, इसलिए बेचारे को मजबूर होना पड़ा। परन्तु जब सही करने का समय आया, तब उसने कहा—"मैं क्या करूँ ? मेरे 'नहीं' कहने पर भी वह तो घूमती है, घूमती है और अवश्य घूमती है।" भावार्थ यह कि ज्ञान के साथ तितिक्षा भी चाहिए। अक्ल के साथ दृढ़ता चाहिए। 'धीर' शब्द के दूसरे अर्थ में वह आ जाती है। इसके लिए धीर शब्द का अर्थ 'धृ' धातु से लगाना चाहिए। धीर कहते हैं धृतिवान्, धैर्यवान्, तितिक्षावान् को। गीता में इस शब्द का प्रयोग दोनों अर्थ समाविष्ट करके किया गया है।

ऐसा तत्त्वज्ञान-तितिक्षा-सम्पन्न धीर पुरुष ही शीत-उष्ण आदि

**४०. जब ये भी काफी न हों तो क्या करें ?**

द्वन्द्वों को सहन करने में समर्थ होता है और मोक्ष-लाभ के योग्य बनता है—ऐसा भगवान् ने दूसरे अध्याय के आरम्भ में कहा है। परन्तु स्थितप्रज्ञ के लक्षणों में भगवान् कहते हैं—इन दोनों शक्तियों के रहने पर भी इन्द्रियाँ मन को चक्कर में डाल देती हैं। इन्द्रियाँ यत्नवान् विपश्चित् पुरुष के भी वश में नहीं होतीं, उस पर भी वे मात कर जाती हैं, ऐसा कहने पर तो मानो आशा के लिए कोई जगह ही नहीं रही। यह तो निराशावाद ही हो गया। दूसरे शब्दों में आक्षेपकों का यह आक्षेप कि इन्द्रिय-निग्रह का अर्थ आपने बहुत ही कठिन कर डाला, गीता ने और भी मजबूत कर दिया। अब इसमें से रास्ता कैसे निकालें, यह बात अगले श्लोक में बतानेवाले हैं।

# पाँचवाँ व्याख्यान

## १

कल मनु और गीता के वचनों का अंतर देखा। उसे और स्पष्ट कर लें तो अच्छा। मनुष्य की वुद्धि और इन्द्रियों के बीच मन है। अतः जो इन्द्रियों पर कावू पाना चाहता है वह मन पर भी कावू पाना चाहता है; परन्तु मन पर नियन्त्रण आसानी से नहीं पाया जाता। इसलिए गीता कहती है कि पहले इन्द्रियों को वश में करो। इसका यह अर्थ नहीं कि इतने से मन वश में हो ही जायगा; वल्कि इन्द्रियाँ जव विषयों से अलग पड़ जाती हैं तव मन पर आक्रमण करती हैं। साधक इस वात को जानता है। वह अपने को मन से अलग करता है। वह पहचानता है कि मन पर आक्रमण हो रहा है। वह मन के अधीन नहीं होता। उससे सहयोग भी नहीं करता। गीता की भाषा में यह भाव सूचित किया गया है, 'हरन्ति प्रसभं मनः'; इन्द्रियाँ सिरजोर होकर उसके मन को खींच ले जाती हैं, ऐसा कहा गया है। यह नहीं कहा कि उसीको खींच ले जाती हैं। साधक का मन इन्द्रियों के साथ खींचा जाता है, साधक नहीं खींचा जाता। परन्तु मनु ने ऐसा नहीं कहा है। वह कहते हैं— "ये जवरदस्त इन्द्रियाँ विद्वान् को भी खींच ले जाती हैं। उसके मन को ही नहीं, वल्कि खुद उसीको खींच ले जाती हैं—विद्वांसमपि कर्षति।" इन्द्रियों को रोककर रखते-रखते भी वे मन पर आक्रमण करती हैं। अतः ऐसा उपाय करना चाहिए कि उनका आक्रमण मन पर न हो सके। पर प्रयत्नशील विद्वान् के लिए भी यह कठिन होता है, अर्थात् साधक की यह विचली अवस्था लड़खड़ाने जैसी होती है। मन विषय की ओर दौड़ता है। साधक उससे सहयोग नहीं करता।

**४१. मनु और गीता के वचनों का विशेष विवेचन**

किन्तु उसे ऐसी स्थिति प्राप्त करनी होती है कि मन उधर जाय ही नहीं। उसका सारा दर्शन और तीव्र प्रयत्न भी इस काम में अपर्याप्त साबित होता है। प्रश्न उठता है कि तब किया क्या जाय ? इसीका उत्तर अगले श्लोक में दिया है।

**'तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।**
**वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।'**

युक्तः सन् तानि सर्वाणि संयम्य मत् परः आसीत—ऐसा इसका अन्वय करना चाहिए। युक्तिपूर्वक सब इन्द्रियों का संयम कर ईश्वर-परायण होकर रहे। ज्ञान और तितिक्षा के बल पर इन्द्रियों को वश में कर ही लेना चाहिए। जहाँ जरूरी हो वहाँ निग्रह और जहाँ आवश्यक हो वहाँ संयम करने की युक्ति साध ही लेनी चाहिए। इस तरह पहले युक्तिपूर्वक इन्द्रियों को वश में कर लो, यह कहा है। निग्रह और संयम दोनों का संग्राहक एक शब्द है, 'निरोध'। गीता कहती है कि ज्ञान और तितिक्षा के बल पर निरोध-शक्ति प्राप्त करो। परन्तु इस तरह बड़ी युक्ति से इन्द्रिय-निरोध करने पर भी जब तक मन वश में न हो जाय, तब तक निरोध पूरा नहीं होता। मनोनिरोध के लिए मनुष्य का बल अपूर्ण साबित होता है। यहाँ से भक्ति का आरंभ होता है।

**४२. युक्तिपूर्वक यथाशक्ति इन्द्रिय-निग्रह करके जब अपना बल कम पड़े तो भक्ति का आवाहन करें।**

जब और जहाँ मनुष्य की पुरुषार्थ-शक्ति कुण्ठित होती है, टूट जाती है, वहीं भक्ति आवश्यक हो जाती है। परिपूर्ण प्रयत्न किये बिना भक्ति के लिए गुंजाइश नहीं है। ईश्वर ने जो शक्ति हमें दे रखी है, उसका पूरा-पूरा उपयोग करने में ही हमारी नम्रता और आस्तिकता है। हमारे भीतर जो शक्ति बसती है, वह 'वासुदेव' शक्ति है। वह ईश्वर की ही शक्ति है, वह उसने हमें पहले से ही दे रखी है। कुछ शक्ति उसने हमें दे रखी है, कुछ अपने पास रख छोड़ी है। यह जो देव-

**४३. वहीं भक्ति आवश्यक**

दत्त शक्ति है, उसे हम स्व-शक्ति समझते हैं, यह भूल है। वस्तुतः वह ईश्वर ही की शक्ति है। इसके विपरीत ईश्वर ने जो शक्ति अपने पास रख छोड़ी है, वह भी हमारी ही है। अपने पास की शक्ति का पूर्णतया उपयोग करने पर ही उस शक्ति की माँग का अधिकार प्राप्त होता है।

**४४. प्राप्त शक्ति का पूर्ण उपयोग कर लेने पर ही ईश्वर से अधिक शक्ति माँगने का अधिकार है।**

हम प्राप्त शक्ति का यदि पूरा-पूरा उपयोग न करें, तो फिर अपनी शेष रखी हुई शक्ति ईश्वर हमें दे भी कैसे! बाप ने बेटे को व्यापार के लिए १० हजार की पूँजी दी और उसने उसका उपयोग ही नहीं किया तो बाप उसे एक लाख की पूँजी कैसे देगा? यदि पहली पूँजी का भलीभाँति उपयोग करके दिखा देगा तो बाप कहेगा—'सब कुछ तुम्हारा ही है।' हमारे और ईश्वर के बीच ऐसा ही सम्बन्ध है। वह अपने पास की सारी शक्ति हमें दे देने के लिए तैयार है, परन्तु उसकी आवश्यकता साबित होनी चाहिए। यदि कोई प्राप्त हो रही शक्ति का उपयोग करते-करते यह साबित कर दे कि उसे ईश्वर की सारी ही शक्ति चाहिए तो ईश्वर प्रसन्न ही होगा। वह कहेगा—'वाह, ऐसा ही प्रयोगी भक्त तो मैं चाहता था।' परन्तु संसार में ऐसा कोई कार्य ही नहीं उत्पन्न हुआ, जिसके लिए ईश्वर की सम्पूर्ण शक्ति की आवश्यकता हो। अतः मनुष्य जितनी शक्ति की आवश्यकता सिद्ध करेगा, उतनी उसे ईश्वर से निर्बाध मिलती रहती है। मनुष्य को कभी भी निराश होने या हार मानने की आवश्यकता नहीं। वह अपने पास की सारी शक्ति लगा दे तो उसे अधिक शक्ति अवश्य ही मिलती है। अपने पास की शक्ति को पूरा-पूरा लगाये विना भगवान् से यदि मदद माँगे तो वह उसे क्यों देने लगा! भगवान् को अपना पुरुषार्थ दिखाकर स्वयं अपनी कीर्ति तो बढ़ानी है नहीं। क्या उसकी कीर्ति में वढ़ती होना संभव है? उसका यश तो परिपूर्ण ही है। उसे तो आपका ही वैभव और

यश बढ़ाना है। आप अपनी सारी शक्ति लगाकर प्रयत्न करें। थक जायँ तब ईश्वर को पुकारें, वह आपको और बल देगा।

**४५. इसके लिए गजेन्द्र-मोक्ष का परिष्कृत दृष्टान्त**

गजेन्द्र-मोक्ष का उदाहरण देते हुए भक्ति-मार्ग में यह बताया जाता है कि पहले गजेन्द्र ने अपनी शक्ति से विजय प्राप्त करने का प्रयत्न किया। अतः भगवान् उसकी सहायता के लिए नहीं आये। उसे अपनी शक्ति पर अहंकार था। यदि गजेन्द्र को अपनी शक्ति पर अहंकार था तो ईश्वर ने उसका गर्व-परिहार होने के बाद ही उसकी सहायता की, यह ठीक ही किया। परन्तु मान लीजिये कि एक ऐसा गजेन्द्र है, जिसे अपनी शक्ति का अहंकार नहीं है, परन्तु अपने बल का उपयोग न कर वह भगवान् से मदद माँगता है, तो इसमें अपनी शक्ति का उपयोग न करने का हठ अहंकार ही तो है। उसके पास जो बल है उसे वह क्यों न लगाये! वह बल उसका अपना थोड़े ही है! है तो वह भगवान् का ही! मेरा बल भी भगवान् का ही है, ऐसी भावना से स्वशक्ति का उपयोग अहंकार नहीं होता। उलटे अपने पास का बल न लगाना अहंकार, आलस्य और अश्रद्धा है। जो शक्ति तेरी नहीं है उसे तो तू रख छोड़ता है और फिर भगवान् से सहायता माँगने जाता है। अपने अन्दर भगवान् की जो शक्ति मौजूद है वह निरहंकार होकर पूरी पूरी लगा दे और फिर अधिक शक्ति का आवाहन कर! अपने पास की शक्ति का पूरा उपयोग करते ही, जो नहीं है, वह शक्ति ईश्वर देता ही है।

**४६. ईश्वर-शरणता में पराधीनता नहीं**

परन्तु इसमें भी आखिर तो ईश्वर पर ही निर्भर रहना पड़ता है। अतः किसीको लगेगा कि यह तो कुल मिलाकर पराधीनता ही हुई। परन्तु यह ठीक नहीं है; क्योंकि यों देखा जाय तो ज्यों ही हमारी शक्ति खतम हुई त्यों ही पराधीनता आ गयी। परन्तु ईश्वर की शक्ति का आवाहन करना सचमुच में पराधीनता नहीं है। ईश्वर को यदि पराया मानें तो वह पराधीनता

होगी; परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। कोट की जेब के दो हिस्से कर लिये और दोनों में पैसे भरकर रख लिये। ऊपर के हिस्से के पैसे खर्च हो जाने पर अन्दर के हिस्से से निकाल लिये। दोनों हिस्से हैं तो अपनी ही जेब के न! अथवा कुछ रुपये तुम्हारी अपनी ट्रंक में हैं, और कुछ बैंक में जमा हैं, ऐसा ही समझ लीजिये। ईश्वर और हम, दोनों एक ही चैतन्य के रूप हैं। हम अंशमात्र हैं, ईश्वर उस चैतन्य का पूर्णरूप है। तो भी चैतन्य तो एक ही है। अतः उसकी शक्ति वह हमारी शक्ति है। इसलिए ईश्वर से शक्ति माँगने और प्राप्त करने में पराधीनता नहीं है।

## २

**४७. स्थूल सांसारिक कार्य ईश्वर की सहायता के विषय नहीं**

हमने देखा कि मनोनिरोध-सम्बन्धी अपने प्रयत्नों की पराकाष्ठा हो जाने पर भक्ति को अवकाश मिलता है और तभी उसकी आवश्यकता भी उत्पन्न होती है। अपना प्रयत्न कर चुकने पर हम दूसरे की (से) सहायता के लिए बेचैन हो उठते हैं। इस व्याकुलता में से ही भक्ति का जन्म होता है। इससे पहले व्याकुलता नहीं होती, अतः भक्ति नहीं रहती। श्रद्धा रह सकती है। सो पहले अपनी शक्ति लगाकर इन्द्रियाँ वश में कर ली जायँ; विषयों से विमुख इन्द्रियाँ जब मन पर धावा करने लगें तब उस सूक्ष्म आक्रमण के प्रतिकार के लिए ईश्वर से सहायता माँगनी चाहिए। ऐसे सूक्ष्म और पवित्र कार्य के लिए ही ईश्वर की सहायता माँगना आस्तिकता है। लोगों में यह रिवाज पड़ गया है कि साधारण व्यावहारिक कार्यों में भगवान् से मदद माँगी जाती है। ऐसा करनेवाले लोगों को हम आस्तिक कहते हैं। वास्तव में यह आस्तिकता नहीं है। परीक्षा में पास होने के लिए ईश्वर की सहायता माँगना कैसी आस्तिकता है? यह तो बेवकूफी है, पुरुषार्थहीनता है। खेत में फसल

अच्छी नहीं हुई, माँगो ईश्वर से मदद; मानो इन सब प्रश्नों को हल करने की शक्ति हमें उसने दी ही नहीं । ये ईश्वर की सहायता के विषय ही नहीं । सकाम भावना से बाह्य कार्यों में ईश्वर की सहायता माँगना शोभा नहीं देता ।

**४८. ईश्वर से याचना—याचना की उचित रीति**

'युद्ध में हमारी विजय हो'—ऐसी प्रार्थना दोनों पक्षवाले करते हैं। अब ईश्वर बेचारा खुद भी तो अपनी इच्छा रखता है। दोनों को विजय दिलाना उसके लिए संभव नहीं, परन्तु मैं उसे अपनी इच्छा का गुलाम मानता हूँ । मैं अपेक्षा रखता हूँ कि वह मेरी इच्छा के अनुसार अपनी दैवी शक्ति का उपयोग करे । उसकी इच्छा के अनुकूल अपनी इच्छा बनाना आस्तिकता है । परन्तु मैं इससे उलटा ही करता हूँ । मैंने अपनी यह इच्छा तय ही कर डाली कि मेरी विजय हो । उससे सिर्फ सफलता की माँग करता हूँ । वास्तव में प्रार्थना तो यह करनी चाहिए कि 'यदि मेरा पक्ष न्याय का हो तो मेरी विजय हो, नहीं तो मेरी हार होने दे, जिससे मेरी बुद्धि तो शुद्ध होगी ।' महाभारत की एक कथा है : अंधे धृतराष्ट्र की सहानुभूति में गांधारी ने अपनी आँखों पर पट्टी बाँध रखी थी । उसका पुत्र दुर्योधन युद्ध के लिए प्रस्थान करने से पहले उसके पैर छूने आया, तो उसने आशीष दी—'तू सन्मार्ग पर चल रहा हो तो तेरी विजय हो !'—यही सच्चा आशीर्वाद है । 'भगवान्, मेरी खोयी हुई चीज मुझे मिल जाय'—ऐसी प्रार्थना भगवान् से क्यों की जाय ! प्रार्थना यही करनी चाहिए—'वस्तु मिले या न मिले, पर मेरी शान्ति न डिगे !' बच्चा बीमार पड़ा तो लगे प्रार्थना करने—'मेरा बच्चा न मरे !' यह भी कोई प्रार्थना हुई ? मनुष्य कभी-न-कभी मरने ही वाला है । यदि ऐसी याचना करनी हो कि वह अब न मरे तो फिर यह तय कीजिये कि फलाँ वक्त मरने में हर्ज नहीं है । अभी नहीं, २८ तारीख को मरे—ऐसी निश्चित माँग भगवान् से करो । पर ऐसी माँग करेगा कौन ? अतः माँगना ही हो तो भगवान् से यह माँगना चाहिए—

'लड़का मरनेवाला हो तो भले ही मरे; परन्तु मरते समय उसे मानसिक व्याकुलता न हो !'

पहले हम यह तय ही कर लेते हैं कि हमारे लिए क्या योग्य है, फिर ईश्वर से मदद माँगते हैं। मतलब यह हुआ कि हम भगवान् को अपनी बुद्धि का गुलाम बनाना चाहते हैं। उपनिषद् में एक कथा है : भगवान् किसी पर प्रसन्न हुए। उससे भगवान् ने कहा—वर माँग ! वह बोला, 'प्रभो, मैं क्या जानूँ ? मैं यह भी कहाँ जानता हूँ कि मेरे लिए क्या योग्य है। तुम्हीं सब-कुछ जानते हो। जो मेरे लिए उचित हो, वह तुम्हीं दे दो !' वह भक्त परीक्षा में पास हो गया। वही वास्तविक परीक्षा का समय था। उस समय उसने स्वयं निर्णय कर भगवान् पर लादने की कोशिश नहीं की। मेरा हित इसीमें है कि भगवान् मेरी बुद्धि के अनुसार चलने के लिए तैयार नहीं होता। वह यदि मेरी बुद्धि के अनुसार चलने को तैयार हो गया तो यही निश्चित समझो कि मेरा अहित कर वह मुझे अक्ल सिखाना चाहता है। हम अपनी बुद्धि को प्रमाण मानते हैं और फिर चाहते हैं कि हमारी बुद्धि के निर्णय के अनुसार भगवान् चलें। इसके मानी हैं कि भगवान् को हम अपनी बुद्धि के अनुसार चलनेवाला नौकर समझते हैं। भले ही वह शक्तिशाली हो, पर है तो नौकर ही। निर्णय का, विचार करने का उसे अधिकार नहीं। विचार करेंगे हम, निर्णय करेंगे हम; हम हैं 'विधान मण्डल'; वह है सिर्फ अमल में लानेवाला महकमे का हाकिम। किसी जड़ उपकरण की तरह भगवान् से काम लेने की इच्छा जड़ता का लक्षण है। अहंकार का तो है ही। इसमें भगवान् का अपमान है, नास्तिकता है। जड़ता का यह अंश सभी धर्मों में भक्ति के नाम पर आ घुसा है। सकाम कर्मों में भगवान् की सहायता माँगना भक्ति का लक्षण नहीं। गीता ने इसीलिए स्थान-स्थान पर सकामता पर प्रहार किया है। मानो उसका सकामता से खुला विरोध ही है।

**४६. मेरे लिए क्या उचित है यह स्वयं ईश्वर ही जानता है, अतः सकाम प्रार्थना न करें**

**५०. सकाम-भक्ति को भी सशर्त मान्यता**

परन्तु गीता में भगवान् ने दया-भाव से कहीं-कहीं ऐसा भी कहा है कि भक्त यदि सकाम-भाव से मेरी शरण आया तो मैं उसे फल देता हूँ। मैं उसकी उतनी कामना पूर्ण कर देता हूँ; परन्तु वह दया-भाव से दिया गया मात्र आश्वासन है। वह कोई शास्त्र नहीं है। जो हित चाहता है, उसे तो निष्काम-भाव से ही भगवान् की शरण जाना चाहिए। सकाम-भाव से शरण जानेवाले को भी फल का आश्वासन दिया है, किन्तु वह सकाम प्रार्थना की कोई अनुज्ञा नहीं है। कोई सकामता से ही क्यों न हो, परन्तु अनन्यभाव से ईश्वर की शरण आया तो भी बहुत हुआ, ऐसी करुणा उसमें निहित है। सकामता में मूढ़ता तो है ही, अवनति की सम्भावना भी है; परन्तु अनन्यभाव हो तो उन्नति भी सम्भव है। उसका अर्थ यह है कि सकामता के नष्ट हो जाने की सम्भावना है। अनन्यभाव से, मथित हृदय से, यदि सकाम प्रार्थना भी की तो ईश्वर के स्पर्श से वृत्ति पवित्र हो जायगी। परन्तु साधारणतः मनुष्य सकाम-प्रार्थना अनन्यभाव से नहीं करता। ईश्वर पर उसकी न तो पूरी-पूरी अश्रद्धा ही होती है, न श्रद्धा ही। बीमार होने पर इधर डॉक्टरों के पैर पकड़ता है, उधर ब्राह्मणों से अनुष्ठान कराता है। उसकी श्रद्धा भी डोलायमान और पुरुषार्थ भी अधकचरा! ऐसी दुर्बल श्रद्धा अधःपात का कारण होती है। सकामता गौण स्तर की चीज होने पर भी यदि उसके साथ अनन्य-भक्ति का योग हो तो वह चल सकती है। अनन्य-निष्ठा से वह सकामता भी पावन हो जायगी। वस्तुतः निष्कामता और अनन्यता का योग ही इष्ट—वांछनीय है। ●

# छठा व्याख्यान

## १

इन्द्रिय-निरोध का जितना स्थूल कार्य है, उतना तो साधक को स्वशक्ति से कर लेना चाहिए। परन्तु इतने से, अर्थात् स्थूल निग्रह से इन्द्रिय-जय पूरा नहीं होता। मन में से उसका रस, स्वाद, मिट जाना चाहिए; किन्तु इन्द्रियाँ जव मन पर हमला करती हैं तव मनुष्य की दोनों शक्तियाँ, जिन्हें हमने ज्ञान और तितिक्षा कहा है, अपर्याप्त सावित होती हैं। इन शक्तियों को विवेक और वैराग्य भी कह सकते हैं। कव इन्द्रियों का निग्रह करना चाहिए और कव संयम—यह जानने की शक्ति 'विवेक' है। विवेक के द्वारा निग्रह और संयम के अवसरों को पहचान लेने के वाद उसके अनुसार चलने की शक्ति 'वैराग्य' है। परन्तु इस तरह विवेक-वैराग्यपूर्वक इन्द्रिय-निरोध का प्रयत्न करने पर भी रस शेष रह जाता है। अतः रस-निवृत्ति के लिए 'मत्परायण होने को कहा।' विवेक और वैराग्य, इन दोनों शक्तियों का उपयोग करने के वाद तथा उपयोग करते हुए ईश्वर-परायण होकर रहना चाहिए। इस प्रकार इन तीन श्लोकों में इन्द्रिय-जय की परिपूर्ण व्याख्या और साधना वतायी है। इन्द्रियों के निग्रह और संयम द्वारा कामना-मुक्ति प्राप्त करना इन्द्रिय-जय की परिपूर्ण व्याख्या है। इसकी तिहरी साधना तीन विशेषणों के द्वारा दरसायी है—यतत्, विपश्चित् और मत्पर। इन तीन विशेषणों का योग ही गीता का 'स्थितप्रज्ञ' हो जाता है। इस प्रकार इन्द्रिय-निरोध-सम्वन्धी विज्ञान के प्रतिपादक इन तीन श्लोकों का त्रिक यहाँ समाप्त हुआ।

**५१. अव तक के विवेचन का सारांश : यतत् + विपश्चित् + मत्पर = स्थितप्रज्ञ**

**५२. ईश्वर-परायणता स्वतंत्र ध्येय है**

परन्तु यहाँ की भाषा का जो अर्थ अब तक हमने किया है, उससे भी गहरा अर्थ वह रखती है। इन्द्रिय-निरोध में मनुष्य की दोनों शक्तियाँ अपर्याप्त होती हैं, अतः उसकी पूर्ति के लिए साधक ईश्वर-परायण हो, इतना ही यहाँ नहीं कहा गया है; बल्कि युक्तिपूर्वक यथासंभव इन्द्रिय-निग्रह साधकर ईश्वर-परायण होकर रहें, ऐसी भाषा यहाँ है। इस भाषा का यहाँ यह गहरा अर्थ है कि ईश्वर-परायणता स्वतन्त्र ध्येय है और यही अर्थ शास्त्रीय दृष्टि से ठीक भी है। सो कैसे, यह अब देखना चाहिए।

**५३. ध्येय विधायक होना चाहिए**

मन पर इन्द्रियों का आक्रमण होते ही साधक मन के दोष निकालने में लग जाता है; परन्तु ऐसा सतत चिन्तन करते रहने से कि 'मन का विकार निकाल डालना चाहिए— निकाल डालना चाहिए, निकाल डालना चाहिए', वह विकार निकलने के बजाय उलटा पक्का हो जाता है, क्योंकि मन उसीका चिन्तन करता रहता है। इसे विरोधी भक्ति कहते हैं। दुर्जनता का, प्रतिकार के ही लिए क्यों न हो, चिन्तन करते रहने से चित्त में दुर्जनता उत्पन्न होती है। विरोधी चिन्तन से विकार नष्ट होने के बदले उलटे गहरी ज जमा लेता है। भागवत में लिखा है कि 'विरोधी चिन्तन से कं कृष्णमय हो गया था।' अनुभव भी है कि केवल निषेधक साधना मनुष्य विकार में ग्रस्त हो जाता है। 'विषय-रस को मन से निक डालना चाहिए', ऐसा निषेधक साध्य सामने रखने से निषेधक साध प्राप्त होगी। अतः दृष्टि के सामने कोई विधायक ध्येय और उ अनुरूप कोई विधायक साधना होनी चाहिए। ब्रह्म-प्राप्ति की व्याकु विधायक ध्येय है।

ब्रह्म से तन्मय होने का अर्थात् ईश्वर-परायण होने का प्र विधायक साधना है। इसीको 'ब्रह्मचर्य' कहते हैं। वृ

ब्रह्म से या ईश्वर से तादात्म्य होना चाहिए। ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल इन्द्रिय-निग्रह नहीं है। इन्द्रिय-निग्रह यह कोई स्वतन्त्र अथवा अन्तिम साध्य नहीं है। उद्देश्य तो प्रज्ञा को स्थिर करना है। इन्द्रिय-निग्रह प्रज्ञा को स्थिर करने का साधन है। परन्तु 'प्रज्ञा स्थिर करना' यानी वह कहाँ स्थिर की जाय? सब ओर से उसे हटाकर स्थिर किस जगह किया जाय? उसे स्थिर होने के लिए कोई स्थान चाहिए न! इसका उत्तर है—उसे ईश्वर में स्थिर किया जाय। यहाँ यह नहीं कहा है—'इन्द्रिय-निग्रह के लिए मत्परायण होओ, कामनानिवृत्ति के लिए मत्परायण होओ!' यह तो निषेधक अर्थ हुआ। यह पूर्ण अर्थ नहीं है। इस वचन का विधायक अर्थ है—'इन्द्रिय-निग्रह करके मत्परायण होओ!' कामनाएँ यदि बाहर से निवृत्त हों तो फिर उहें ठहरने का, रहने का स्थान कौन-सा? आत्मा ही वह स्थान है। यही आत्मा यहाँ 'मत्परायण' शब्द में ध्वनित किया गया है। कामनारूपी आलम्बन यदि निकाल लिया तो मन निरा-वलम्ब खाली हो जायगा। उस दशा में वह अधिक समय तक नहीं रह सकता। इसलिए उसे ईश्वर का आधार देकर ईश्वर-चिन्तन से भर देना है। वह जब ईश्वर-चिन्तन में मग्न हो जायगा, तो फिर उस पर इन्द्रियों के आक्रमण की आशंका ही नहीं रह जायगी।

**५४. ब्रह्मचर्य अर्थात् ईश्वर-परायणता—ऐसा विधायक ध्येय है**

पहले कहा गया कि इन्द्रिय-निरोध की पूर्णता के लिए ईश्वर-भक्ति की सहायता लेना उचित है। परन्तु वह कथन भी पूर्ण नहीं है; क्योंकि बाद में ध्यान में आया कि ईश्वर-भक्ति किसीका भी साधन नहीं, वरन् स्वयं ही स्वयम्भू साध्य है। ईश्वर-भक्ति का कोई भी अवान्तर उद्देश्य नहीं हो सकता। ईश्वर-भक्ति ईश्वर-भक्ति के ही लिए है। आजकल हम 'कला कला के लिए', 'विद्या विद्या के लिए', 'ज्ञान ज्ञान के लिए', ऐसी भाषा सुनते हैं, परन्तु यह टिकनेवाली नहीं। सांख्यों ने इस विषय में पहले

**५५. ईश्वर-भक्ति ईश्वर-भक्ति के ही लिए है**

ही निर्णय दे रखा है। जड़ वस्तु स्वयं अपने लिए हो ही नहीं सकती। प्रकृति प्रकृति के लिए नहीं है, प्रकृति पुरुष के लिए है। कला आत्मा के लिए है। विद्या और ज्ञान मेरे लिए हैं। 'जड़ जड़ के लिए', यह भाषा ही गलत है; किन्तु यह भाषा और सब बातों में गलत साबित हो तो भी ईश्वर-भक्ति के विषय में सच है। 'ईश्वर-भक्ति के लिए ही ईश्वर-भक्ति', यह भाषा गलत नहीं है; क्योंकि ईश्वर जड़ वस्तु नहीं, बाह्य वस्तु नहीं, वह तो मेरा ही परिशुद्ध रूप है। अतः ईश्वर-भक्ति ही ध्येय है और दूसरी सब साधनाएँ उसीके लिए हैं, ऐसा होना चाहिए।

**५६. भक्त की भूमिका प्राकृतिक चिकित्सक की तरह**

बीमारी आ गयी है। उसका उपचार चल रहा है। बीमारी क्यों दूर होनी चाहिए? बीमारी दूर करना कोई स्वतन्त्र ध्येय नहीं। ध्येय तो आत्म-कल्याण है। आत्म-कल्याण के लिए यदि बीमारी का दूर होना आवश्यक हो तो दूर होना इष्ट है; यदि दूर न होना आवश्यक होगा तो दूर न होना इष्ट साबित होगा। एक बार एक शास्त्रज्ञ से बातचीत हुई। वे प्राकृतिक चिकित्सा के समर्थक थे। उनसे पूछा, 'आपके शास्त्रानुसार क्या सभी रोगी चंगे हो जाते हैं?' उन्होंने कहा, 'नहीं, सब रोगी नहीं अच्छे होते, सब रोग अच्छे होते हैं।' उनकी भाषा सुनिश्चित थी। उनकी पद्धति में जो रोगी मरने लायक होते हैं वे मर जाते हैं, परन्तु मरते हैं शान्तिपूर्वक। अच्छे होने लायक रोगी अच्छे हो जाते हैं। वे भी शान्तिपूर्वक अच्छे होते हैं। यही बात यहाँ भी है। भक्त की भूमिका इस प्राकृतिक चिकित्सक की तरह है। वह कहता है, 'ईश्वर की योजना के अनुसार मेरी आत्मोन्नति के लिए बीमारी दूर होना अभीष्ट हो तो दूर हो! उसकी योजना के अनुसार आत्मोन्नति के लिए दूर न होना अभीष्ट हो तो दूर न हो!' वह तो सब अवान्तर निर्णयों का भार परमात्मा पर छोड़कर छुट्टी पा लेता है। उसकी बुद्धि ने एक ही निर्णय कर रखा है—मुझे आत्मोन्नति चाहिए, ईश्वर

भक्ति चाहिए—इतना ही वह जानता है। और कुछ नहीं जानता। वह सब बाह्य कर्म ईश्वर-भक्ति के लिए करता है। किसी भी बाह्य काम के लिए वह ईश्वर-भक्ति को एक्सप्लॉयट नहीं करना चाहता, ठगना नहीं चाहता।

## २

अब यहाँ यह सहज ही पूछा जा सकता है कि भले ही गौण रूप में क्यों न हो और अनन्यता की शर्त पर ही क्यों न हो, गीता ने सकाम भक्ति को स्थान जो दिया, वह क्यों दिया? इसका उत्तर यह है कि कामना-पूर्ति के लिए भी यदि किसीने दूसरे सब अवान्तर आधार छोड़कर एक ईश्वर का पल्ला अनन्य-भाव से पकड़ लिया तो यह समझना चाहिए कि उसने भी एक उत्तम निश्चय किया। और सब आधारों को छोड़कर एक ईश्वर पर ही भरोसा रखना कोई छोटा-मोटा निश्चय नहीं है। अतएव सकामता गौण स्तर की होने पर भी यही निश्चय आत्मोन्नति में साधक होता है। आगे नवें अध्याय में तो इससे भी एक कदम आगे बढ़कर कहा है—'मुझे अनन्य-भाव से भजनेवाला अत्यन्त दुराचारी हो तो भी शीघ्र ही उसकी भावना शुद्ध हो जाती है।' 'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा' —वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है। यह अनन्यता की सामर्थ्य है। बीमारी आयी, उसे दूर करने की चिन्ता लगी, तो डाल दिया सारा भार भगवान् पर ही। न डॉक्टर चाहिए, न वैद्य। खाना-पीना भी छोड़ दिया। 'भगवान्, मुझे रोग-मुक्त करो।' कहकर अनन्य-भाव से उसीको पुकारा। ईश्वर उसकी श्रद्धा देखकर या तो अच्छा ही कर देगा या प्रत्यक्ष दर्शन देकर उसे अपने पास भी बुला लेगा। यदि दूसरी बात होती है तो ऐसा दिखायी देगा कि उसकी कामना पूरी नहीं हुई; परन्तु भगवान् पर अनन्य श्रद्धा रहने के कारण भक्त को ऐसा ही अनुभव होगा कि मेरा तो अत्यन्त कल्याण हुआ।

**५७. अनन्यता सकामता को भी बचा लेती है**

इस विषय में सुदामदेव का उदाहरण बहुत उत्तम है। दरिद्रता

से अतिशय पीड़ित होने के कारण उसकी पत्नी ने उसे श्रीकृष्ण के पास भेजा। श्रीकृष्ण ने उन्हें कुछ न देकर खाली हाथ घर लौटा दिया। खुद उन्हें पहुँचाने वड़ी दूर तक साथ आये। सुदाम-

**५८. सुदामदेव का दृष्टान्त**

देव कुछ चिवड़ा पल्ले में बाँधकर ले गये थे, सो भी गँवाकर खाली हाथ लौटे। पर मन में वहुत आनन्द हो रहा है। 'पत्नी ने मुझे कामना के साथ भगवान् के यहाँ भेजा था। पर यह माधव कितना दयालु है! उसने मेरी ऐसी-वैसी कामना पूर्ण नहीं की।' यह कहते हुए वे अपनी भक्ति को पुष्ट करते हुए घर लौटे। देखते हैं कि सारा गाँव सोने का वन गया है। कहने लगे, 'भगवान् का कैसा अनुग्रह कि उसने सारा गाँव ही सोने का बना दिया! यह मेरे तुच्छ सुखोपभोग के लिए थोड़े ही है। भगवान् की यह देन जनता की सेवा में ही लगायी जाय।' भगवान् ने दिया तो भी अनुग्रह, न दिया तो भी उसका अनुग्रह ही। ऐसी अनन्यता की भावना में भक्त की महिमा समायी हुई है।

एकनाथ को भगवान् ने मनोनुकूल पत्नी दी। उन्हें लगा—'भगवान् का कितना अनुग्रह है मुझ पर! अव इसकी सहायता से जल्दी ईश्वर-प्राप्ति करूँगा।' तुकाराम को अनुकूल पत्नी नहीं मिली। वे कहते हैं—'भगवान् का मुझ पर कितना अनु-

**५९. भक्त को सब बातों में ईश्वर-कृपा ही दिखाई देती है**

ग्रह है कि उसने मुझे मन-माफिक स्त्री नहीं दी, अन्यथा मैं अवश्य ही इस संसार में फँस जाता!' पत्नी अनुकूल मिली तो भी कृपा, प्रतिकूल मिली तो भी कृपा। विलकुल न मिले तव भी कृपा और मिलकर मर गयी तो भी कृपा ही!

**बाईल मेली मुक्त झाली।**<br>
**देवें माया सोडविली॥**<br>
**विठो तुझे-माझे राज्य।**[1]

---

१. "पत्नी मरी, पाई मुक्ति।<br>
मानो दे दी माया मुक्ति।<br>
प्रभुजी अव हम दोनों का राज्य।"

'भगवन् , तेरे-मेरे बीच एक परदा था, सो अव गया। अव हम दोनों का एकच्छत्र राज्य हो गया।' इस तरह भक्तों को सव वातों में परमेश्वर की कृपा ही दीख पड़ती है। अनन्य भक्त की भूमिका की यही महिमा है।

**६०. अनन्य भक्त की सकामता व्यापक सद्भावना ही है; एक लौकिक दृष्टान्त**

कामनापूर्वक परन्तु अनन्यता से की गयी ईश्वर-भक्ति में उद्देश्य गौण होने अथवा दिखायी देने पर भी अनन्यता के कारण भगवान् की कृपा से चित्त-शुद्धि होती है; अथवा दूसरी भाषा में सकामता का लोप होकर निष्कामता की प्राप्ति होती है; अथवा और भी दूसरी भाषा में कहें तो सकामता ही निष्काम वन जाती है। वल्कि अनन्यता से युक्त सकामता, सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो, संकुचित सकामता नहीं, वरन् व्यापक सद्भावना ही होती है। इसके लिए हम वड़े उदाहरणों के वजाय एक छोटा-सा लौकिक उदाहरण ही लें। मान लीजिये कि एक स्त्री की ईश्वर पर अनन्य भक्ति है। उसकी नथ खो गयी है। और वह चाहती है कि मिल जाय। वह कहती है—'भगवन्, मेरी नथ मिल जाय! देख, मैंने तेरी भक्ति में जरा भी कसर नहीं रखी है। फिर भला मेरी नथ क्यों खो गयी? और उसे लेने की इच्छा भी किसीको क्यों हुई? अव मैं तो उसे खोजने की कोई भी कोशिश करूँगी नहीं, पुलिस में भी रिपोर्ट नहीं करूँगी। मन से भी किसी पर संदेह नहीं करूँगी। जिस किसीने ली है उसमें तू ही सद्भावना जाग्रत कर देगा तो वह वापस ला देगा। उस हालत में मैं प्रसाद चढ़ाऊँगी। जिसने चुरायी है, उसे उसमें से आधा प्रसाद दूँगी। उसके प्रति तुच्छ भाव मन में न आने दूँगी और मैं तेरी भक्ति और भी जोर से करूँगी। यदि तूने उसे ऐसी सद्बुद्धि न दी तो मैं उस पर क्रोध न करूँगी, तुझ पर करूँगी और उस क्रोध में पहले से और भी तीव्र भक्ति करने लगूँगी। अव तुझे जो-कुछ करना हो सो कर!' जव अनन्य भक्ति और सकामता दोनों की एकत्र कल्पना की जाती है, तव उसका इतना गहरा अर्थ

होता है। अब इस कल्पित स्त्री की नथ-विषयक कामना वास्तव में क्या है? संसार में किसीके मन में चोरी की प्रेरणा न हो, संसार की वासना शुद्ध रहे—यही न अर्थ हुआ उस कामना का! इतना होने पर अब यह तो ईश्वर की मर्जी पर ही रहा कि वह इस नथ को वापस दिला देगा या नहीं। उसके शास्त्र के अनुसार जो उचित होगा, सो वह करेगा। उसका शास्त्र निश्चित है, पर हम उसे नहीं जानते। यदि हमें वह मालूम हो जाय तो फिर हम ही ईश्वर न हो जायँ! उसका शास्त्र जो-कुछ हो, उस स्त्री को तो दोनों दृष्टियों से भक्ति ही करनी है। अनन्य भक्ति और सकामता के योग से क्या फलित निकलता है, यह बात इस उदाहरण से समझ में आ जायगी।

## ३

इस सबका अर्थ यह हुआ कि अवान्तर कामना तो क्या, इन्द्रिय-निग्रहरूपी साधना भी गौण है; ईश्वर-परायणता ही मुख्य वस्तु है।

**६१. ईश्वर-परायणता ही मुख्य वस्तु है। वासना को भी ईश्वर-परायण बनाओ।**

गीता का थोड़े में, किन्तु दृढ़तापूर्वक कथन यह है—'तू मत्परायण हो और रुचिपूर्वक विषयाधीन न हो तो बस है। इससे तेरी सारी वासनाएँ धुलकर साफ हो जायँगी।' चित्त में वासनाएँ उठती रहें, परन्तु उसके अनुकूल बाह्य कृति न होने दे तो बस है। वासनानुकूल कृति करने से वासना पक्की हो जाती है, अतः ऐसा न कर; परन्तु दूसरी ओर साधक के बाह्य इन्द्रिय-निग्रह कर लेने पर भी चित्त की वासना छूट तो नहीं जाती! वह भीतर-ही-भीतर धुंधुआती और सताती रहती है। चित्त को चैन नहीं पड़ने देती। तो वह क्या करे? तो कहते हैं कि उस वासना को ही ईश्वर-परायण कर दे। एकनाथ ने भगवान् से प्रार्थना की है—'मेरे चित्त में जो-जो वासनाएँ उठें, वे तू ही हो जाय।' इस तरह तमाम वासनाओं का रूपान्तर हो जाता है। वासना ईश्वरमय हो जाती है। भक्ति से वह उन्नत होती जाती है।

वस्तुतः किसी भी मनुष्य में बुरी वासना रहती ही नहीं है; पर वह स्वयं भी इस बात को नहीं जानता, दूसरे भी नहीं जानते। बाह्य वस्तु की प्राप्ति के लिए वह दौड़-धूप करता दिखायी देता है। सारी बाह्य सृष्टि मेरी हो, इसके लिए वह प्रयत्न करता है।

६२. वासना मूलतः बुरी नहीं है; ईश्वर-परायणता से वासना का रूपान्तर होता है।

कभी-कभी तो निषिद्ध वस्तु की प्राप्ति के लिए भी वह प्रयत्न करता हुआ दीखता है। वस्तुतः शरीर-बद्ध आत्मा का व्यापक होने का यह प्रयत्न है। वह विराट् सृष्टि से अपनी दृष्टि के अनुसार एक-रूप होना चाहता है। उस शरीर के संकुचित दायरे में उसे कल नहीं पड़ता। शराबी शराब पीता है। उसके मूल में भी वही विकलता है। भक्ति-मार्ग उस शराबी से कहेगा—'तू भी यह बाहरी तुच्छ शराब पीना बन्द कर दे। भगवान् को ही तू अपनी शराब बनने दे। उसकी भक्ति की शराब पीता जा!' उमर खय्याम की रुबाइयों में यही रूप दिखायी देता है। 'वासो यथा परिकृतं मदिरा-मदान्धः' ऐसी स्थिति उस भक्ति-रूपी शराब के पीने से हो जाती है। इस तरह भगवान् को अर्पण करने से वासना को दिव्य रूप प्राप्त होता है। इसलिए भगवान् कहते हैं—मत्परायण हो! चित्त में विषय-वासना पैदा हो तो भी घबरा मत, किंकर्तव्यमूढ़ मत बन! मात्र विषय-भोग में मत पड़, वासना ईश्वर को चढ़ा दे। काम-क्रोध भी उसीको चढ़ा दे। इससे उन विकारों का और तेरी वासना का रूपान्तर ही हो जायगा और तब चित्त के विकार शमन होकर प्रज्ञा स्थिर हो जायगी।

भौतिक विद्या की उपासना में भी यदि निष्कामता, अनन्यता और ईश्वर-भावना हो तो चित्त-शुद्धि हो सकती है। इस दृष्टि से भौतिक और आध्यात्मिक, ऐसा भेद ही नहीं रह जाता। यह भेद वास्तव में यथार्थ नहीं है। तब गणितोपासक का गणित ही ईश्वर हो जायगा, अगर उस भावना से उसकी साधना हो रही हो। एक गणितशास्त्रज्ञ की बात है कि उसने एक अपूर्व शोध की। संसार के

ज्ञान में वृद्धि कर देनेवाली योग्यता की यह शोध उसने कागज पर लिखकर रखी। बाद में संयोग से वे तमाम कागज कहीं नष्ट हो गये, परन्तु वह गणितज्ञ शान्त ही रहा। उसके चित्त में जरा भी क्षोभ नहीं हुआ। केवल गणित से इतनी शान्ति मिलना संभव नहीं है। ऐसा ही मानना होगा कि वह गणित की उपासना ईश्वरार्पण-बुद्धि से कर रहा था। हो सकता है कि वह ईश्वर का नाम भी जानता न हो। परन्तु इससे उसकी उपासना में अन्तर नहीं पड़ता।

**६३. निष्कामता, अनन्यता और ईश्वर-भावना हो तो फिर भौतिक विद्या की उपासना भी पावन हो सकती है।**

मुझ-जैसा कोई सूत-कताई में तन्मय हो जायगा। कोई दूसरा किसी और पवित्र सामाजिक उद्योग में तन्मय हो रहेगा। उन-उन विषयों को जो ईश्वर-स्वरूप देखकर उनकी उपासना करेगा, उसके चित्त पर इन्द्रियों का आक्रमण नहीं हो सकेगा। जो लोग केवल भौतिक दृष्टि से विज्ञान की अथवा इतर विषयों की साधना करते हैं, उन्हें यह सिद्धि निश्चय ही नहीं मिल सकती। कारण स्पष्ट ही है। भौतिक विषय अन्तत: आत्मा से भिन्न पड़ जाते हैं। आत्म-भिन्न अनात्म विषयों में लीन होने का कितना ही प्रयत्न आत्मा करे, तो भी वह कैसे सफल होगा? वे ही विषय यदि ईश्वर-भावना भावित हो जायँ तो फिर उनमें आत्मा को लीन होने में कोई कठिनाई नहीं रहती। उनमें वह पूर्णत: विसर्जन प्राप्त कर सकता है।

●

# सातवाँ व्याख्यान

## १

"ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥"

स्थित-प्रज्ञ का प्रकट लक्षण है, जितेन्द्रियता। उसका विस्तार बीच के दस श्लोकों में किया गया है। उनमें से तीन श्लोकों का पहला

**६४. इन्द्रिय-जय के तत्त्वज्ञान की प्रस्तावना। विषय-चिंतन से बुद्धिनाश तक की व्यतिरेक-परम्परा**

विज्ञान-परिच्छेद समाप्त हुआ। अब अन्वय-व्यतिरेक द्वारा यह विवेचन किया गया है कि इन्द्रिय-जय का प्रज्ञा से क्या सम्बन्ध है। पहले दो श्लोकों में व्यतिरेक से और आगे के दो श्लोकों में अन्वय से इन्द्रिय-जय की स्थितप्रज्ञता के लिए आवश्यकता बतायी गयी है। यहाँ से इन्द्रिय-जय का तत्त्व-ज्ञान प्रारम्भ होता है।

जो इन्द्रिय-निरोध नहीं कर पाया है, जो विषयों का ध्यान करता रहता है उसे उस विषय का संग लग जाता है। संग का अर्थ

**६५. विषय-चिंतन से संग और संग से काम पैदा होता है**

है संगति, परिचय। विषय का संग लगता है, इसका अर्थ है विषयों में लगाव का उत्पन्न होना। मन विषय में लिप्त होने लगता है। उससे काम पैदा होता है। पहले विषयों का ध्यान, फिर संग, और फिर काम, ऐसा उत्तरोत्तर क्रम है। इन तीनों वृत्तियों में कोई बड़ा अन्तर नहीं है; बल्कि ये एक ही वृत्ति के तीन रूप हैं। उद्गम से लेकर मुख तक बड़ी नदी के अनेक नाम होते हैं, तो भी उसका प्रवाह एक ही रहता है। उसी तरह एक ही प्रवाह-

शील वृत्ति के ये तीन नाम हैं। मिट्टी और मिट्टी की बनी वस्तुओं में आखिर अन्तर क्या होगा? चिन्तन के द्वारा विषय से परिचय होता है, अर्थात् विषय मन में साकार होने लगता है। कोई मनुष्य किसी मित्र के आग्रह से सहज देखने के लिए शराब की दूकान पर चला गया। फिर अपने मित्र के खिंचाव से बार-बार जाने लगा। इस खिंचाव का नाम है संग। फिर उस विषय में रमणीयता, सुन्दरता, आकर्षण, रस, मिठास, रंजन अनुभव होने लगता है। यही काम है। इसी काम से, गीता कहती है कि, फिर क्रोध उत्पन्न होता है। 'कामात् क्रोधोऽभिजायते।'

**६६. फिर काम से क्रोध उत्पन्न होता है। इस विषय में भाष्यकारों के स्पष्टीकरण**

यहाँ वास्तविक कठिनाई मालूम होती है। यहाँ विचारकों की फजीहत हुई मालूम होती है। यह प्रश्न विकट हो बैठा है कि काम से क्रोध कैसे उत्पन्न होता है। आगे चलकर क्रोध से मोह, मोह से स्मृति-भ्रंश, उससे बुद्धि-नाश तक सीढ़ियाँ सीधी मालूम होती हैं, परन्तु यह ठीक से समझ में नहीं आता कि काम में से क्रोध कैसे पैदा होता है। शंकराचार्य ने भाष्य में "कामात् कुतश्चित् प्रतिहतात् क्रोधः अभिजायते" ऐसा हल निकाला है। वे कहते हैं—काम जब प्रतिहत होता है, तो उसमें से क्रोध उत्पन्न होता है, परन्तु यदि ऐसी तरकीब निकाल ली कि वह प्रतिहत न हो तो फिर काम से क्रोध कैसे पैदा होगा? इसका अर्थ यह हुआ कि काम से क्रोध पैदा होता है, यह वाक्य सदा के लिए सत्य नहीं साबित होगा। काम में यदि कोई रुकावट न पड़ी तो फिर इस वाक्य की इमारत ढहने लगती है। इसलिए गांधीजी ने इसका एक और रास्ता निकाला है—"काम कभी पूरा होता ही नहीं", ऐसी टिप्पणी उन्होंने दी है। साधारणतः यह बात ठीक है। सारे संसार का अनुभव है कि काम सहसा पूर्ण नहीं होता। वासना बढ़ती ही जाती है, तृप्ति कभी होती ही नहीं। दस हजार मिलें तो लाख की इच्छा होती है। लाख के बाद दस लाख की और फिर करोड़

की। गणित की संख्या का अंत नहीं। वासना का भी अन्त नहीं। ययाति का वचन प्रसिद्ध ही है—"आहुति डाली हुई अग्नि की तरह भोग से काम सदा वढ़ता ही जाता है।" इस तरह गांधीजी की युक्ति सामान्यतः लाजवाव मालूम होती है, परन्तु शंकराचार्य और उनकी युक्ति प्रायः एक-सी मालूम होती है। जव कि कामना का अन्त नहीं है तो कहीं-न-कहीं से उसमें बाधा पैदा होगी ही, और फिर क्रोध पैदा हुए विना नहीं रहेगा—यह है शंकराचार्य का भाव। काम को गीता में 'अनल' कहा है। वह कभी 'अलम्' अर्थात् 'वस' होता ही नहीं।

लेकिन इतने पर भी फजीहत से छुटकारा नहीं हो जाता। यदि किसीने वाहरी परिस्थिति को अपनी कामना के अनुकूल वना लिया या कामना को उसके अनुकूल कर लिया तो फिर क्रोध के लिए गुंजाइश कहाँ रही? कामना और परिस्थिति में मेल हो जाने से कामना में बाधा पैदा होने की सम्भावना कम हो गयी तो फिर काम में क्रोध पैदा होता है, यह वाक्य बाधित हुआ ही! इस पर एकनाथजी ने भागवत में एक और ही युक्ति निकाली है। वे कहते हैं—"काम या तो पूरा होगा या अधूरा रहेगा। अधूरा रहा तो क्रोध पैदा होगा और पूरा हो गया तो लोभ को जन्म देगा। अतः क्रोध शब्द का अर्थ क्रोध और लोभ मिलाकर व्यापक करना चाहिए।" फिर सम्मोह होगा, तो वह क्रोध से होगा या लोभ से। नरक के तीन दरवाजे वताते हुए गीता ने काम और क्रोध के साथ लोभ को जोड़ा ही है; अनुभूति भी ऐसी ही है कि काम से क्रोध और लोभ पैदा होते हैं।

**६७. एकनाथ का एतद्विषयक हल**

परन्तु इस समस्या को हल करने का तरीका वास्तव में दूसरा ही है। यहाँ हमें यह समझना है कि 'क्रोध' का एक विशेष अर्थ है। विषयों का ध्यान लगने से संग उत्पन्न होता है। 'संग' का अर्थ है विषय का साकार रूप ग्रहण करना। फिर वह कान्त, कमनीय अर्थात् पाने योग्य लगता है। यह काम है, जिसमें से

**६८. 'क्रोध' शब्द से यहाँ 'क्षोभ' समझना है**

क्रोध को अवश्यम्भावी कहा है। यह नहीं कहा कि कभी-कभी पैदा होता है। अतः यहाँ क्रोध शब्द सामान्य अर्थ में नहीं आया है। क्रोध का स्थूल और हमारा परिचित अर्थ है गुस्सा, संताप। वह यहाँ अभीष्ट नहीं, बल्कि चित्त का चलन अथवा क्षोभ है। 'क्रुध्' धातु का मूल अर्थ तौलनिक भाषा-शास्त्र के अनुसार क्षोभ, खलबली ही है। इसके समानार्थक 'कुप्' धातु का तो 'क्षोभ' के अर्थ में संस्कृत में प्रायः सदा ही प्रयोग होता है। काम के उत्पन्न होते ही मन की स्वस्थता डिगने लगती है। मन में अप्रसन्नता उत्पन्न होती है। काम की पूर्ति चाहे हो या न हो, उसके उत्पन्न होते ही चित्त की समता नष्ट होती है।

**६९. क्रोध का अर्थ है क्षोभ अर्थात् चित्त की अप्रसन्नता**

इसकी विपरीत परम्परा जो अन्वय-पद्धति से आगे बतायी गयी है उससे भी यही अर्थ निकलता है। फिर आगे यह कहा गया है कि जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है, उसे प्रसन्नता प्राप्त होती है। इससे यह मालूम होता है कि यहाँ क्रोध शब्द प्रसन्नता के विपरीत अर्थ में आया है। काम मन की इस छटपटाहट को कहते हैं कि मुझे फलाँ चीज चाहिए और यही अप्रसन्नता है। जब तक वह विषय ( वस्तु ) प्राप्त नहीं हो जाता तब तक मैं पूर्ण नहीं हूँ, उसके बगैर मुझमें कमी है। ऐसी हीन भावना कामना के मूल में रहती है। इसीलिए कामना से मन मलिन होता है। उसकी निर्मलता नष्ट होती है। संस्कृत में तो प्रसन्न शब्द निर्मल के अर्थ में बरता भी जाता है। स्वच्छ पानी को 'प्रसन्नम् जलम्' कहते हैं, जैसे सिंहगढ़ की देवटंकी का पानी। ऊपर से जब कंकड़ डालते हैं तो ठेठ नीचे तह में पहुँचने तक उसकी सारी यात्रा साफ-साफ दिखायी देती है। प्रसन्नता का अर्थ है ऐसी निर्मलता और पारदर्शकता। वाल्मीकि जिस तीर्थ में स्नान के लिए गये थे उसके विषय में कहा है—"अकर्दमम् इदम् तीर्थं सज्जनानां मनो यथा।" सज्जनों का चित्त सब तरफ से खुला, निर्मल और प्रकट रहता है। जैसा कि ज्ञानदेव ने कहा है—'कोना-कचोना न वह जाने।'

वह अकर्दम होता है। 'कर्दम' मल को कहते हैं। मल पानी के वाहर की वस्तु है। उसका रंग जहाँ पानी पर चढ़ा कि वह मटमैला हुआ। पानी जव असल वे-रंग होता है, तो प्रसन्न रहता है। इसी तरह आत्मा जव अपने मूल स्वरूप में रहता है, तो प्रसन्न रहता है। उसे वाहरी वस्तु की इच्छा होना, उसका रंग उस पर चढ़ने लगना यही उसका मैलापन है। यही अप्रसन्नता है। वाह्य कामना जहाँ आयी कि मिलावट हुई। तव कामना का महत्त्व आत्मा को मालूम होने लगता है। उसके सामने वह स्वयं गौण हो जाता है, फीका पड़ जाता है। उसका मन चलित होने लगता है, अशांति, व्याकुलता मालूम होने लगती है, क्षोभ होता है। इसीको यहाँ 'क्रोध' कहा है। कामना से चित्त में जो स्पन्दन होता है, वही यहाँ 'क्रोध' शव्द से सूचित किया गया है। आत्मा का मूल रूप प्रशान्त और निष्पंद होता है—रात के नीरव, निरभ्र और तारकित आकाश की तरह। अनन्त शुभ गुण ही मानो यहाँ के अनन्त तारे हैं!

**७०. कामना से चित्त-क्षोभ क्यों होता है?**

आत्मा के परिपूर्ण और अनन्तगुणी होते हुए भी मनुष्य वाह्य वस्तु के लिए क्यों छटपटाता है? वाहर की इष्ट-प्राप्ति और अनिष्ट-परिहार की झंझट में वह पड़ता क्यों है? इसका कारण यह है कि मनुष्य के चित्त को आत्मा का दर्शन नहीं होता। केवल वहिर् दर्शन होता है। वाहरी सृष्टि का सौन्दर्य उसे लुभाता है। असौंदर्य त्रास देता है। वस्तुतः सौंदर्य अथवा असौंदर्य वाह्य वस्तु में नहीं है। वहाँ तो मात्र आकार है। तद्विपयक अनुकूल-प्रतिकूल वृत्ति मुख्यतः चित्त की करनी है। चित्त इन्द्रियाधीन है। गधे की आवाज हमारे कानों को कर्कश मालूम होती है, इससे चित्त भी उसे कर्कश समझता है, परन्तु वास्तव में वह न तो मधुर है, न कर्कश। वह जैसी है, वैसी है। हमारे कानों को यद्यपि वह वुरी लगती है, तो भी गधे के कानों को आनन्ददायी ही मालूम होती होगी। मुझे संगीत् का शौक है, परन्तु जव मैं यह विचार करने

लगता हूँ कि यह आवाज मधुर और यह कर्कश है तब क्या मैं वास्तव में आवाज पर ही अपनी तरफ से आरोप नहीं कर रहा हूँ? मैं यह नहीं कहता कि खुद आवाज मिथ्या है, नहीं तो कोई मार्क्सवादी मेरे पीछे पड़ जायगा और कहेगा—"क्या इस सारी सृष्टि को ही कल्पना-प्रसूत कहते हो?" लेकिन यह मेरा कहना नहीं है। सृष्टि सच्ची ही है। वह मैंने अपनी कल्पना से नहीं बनायी है, इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि वह ईश्वर की बनायी हुई है; परन्तु उसके सम्बन्ध में जो कल्पना या खयाल है, वह मेरा है, अर्थात् मेरे इन्द्रियाधीन चित्त का है। इस तरह मैं सृष्टि के भिन्न-भिन्न पदार्थों के विषय में अनुकूल या प्रतिकूल वृत्ति बनाता हूँ। वह क्षोभ का कारण होती है। जब यह बात समझ में आ जायगी कि आत्मा परिपूर्ण है तो मनुष्य का चित्त सन्तुष्ट और प्रसन्न होगा। उसे किसी भी प्रकार की कमी न खटकेगी। वह कहेगा, "मैं बाह्य वस्तु के पीछे पड़कर, उसके लिए व्याकुल होकर, परतन्त्र क्यों बनूँ? वह वस्तु क्यों नहीं मेरी अभिलाषा करती? मैं ही क्यों उसके लिए व्याकुल होकर अपने चित्त को खराब करूँ? वह अपनी ऐंठ में चूर है तो मैं भी क्यों अपनी ऐंठ में चूर न रहूँ?" बाह्य वस्तु की अभिलाषा करते रहने से आत्मा में न्यूनता आती है और इससे चित्त क्षुब्ध होता है। चित्त की इस क्षुब्धता को ही यहाँ क्रोध कहा है।

## २

क्रोधात् भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

क्रोध से मन मूढ़ हो जाता है—"क्रोधात् भवति सम्मोहः।" बचपन में मैं कहा करता था—"भरपेट गुस्सा होकर भी मेरी बुद्धि ज्यों-की-त्यों साबित रहती है।" क्रोध से बुद्धि की समता नष्ट होती है, इसका भी होश नहीं रहता, यही इस बात का लक्षण है कि बुद्धि साबित नहीं है। मोह का अर्थ यह नहीं है कि बुद्धि की सारी ही शक्ति नष्ट हो जाय। बुद्धि की प्रखरता का चला

७१. क्रोध से मोह होता है, अर्थात् बुद्धि भोथरी होती है

जाना और उसका भोथरा पड़ जाना ही मूढ़ता का अर्थ है। ऐसी स्थिति में मनुष्य का कर्तव्य-निर्णय गड़बड़ में पड़ जाता है, यही सम्मोह है।

इस तरह सम्मोह होने पर स्मृति-भ्रंश होता है। स्मृति-भ्रंश का अर्थ मामूली विस्मृति नहीं, बल्कि इस बात का विस्मरण कि 'मैं कौन हूँ' स्मृतिभ्रंश है। बहुत-सी बातों का याद रहना 'स्मृति' नहीं है। मैं जो कुछ बोलता हूँ उसे अक्षरशः ज्यों-का-त्यों किसीने दुहराकर बता दिया तो उसे मैं जड़यन्त्र कहूँगा। जो भूल जाने लायक है उसे भूलने की और जो याद रखने लायक है उसे याद रखने की विवेक-शक्ति उसके पास नहीं है। सच्ची स्मृति में यह विवेक गृहीत है। सब बातों को याद रखकर उसका बोझ वह क्यों उठाये? विवेक का उपयोग करके कुछ रख लेना चाहिए और कुछ छोड़ देना चाहिए। उचित स्मरण और उचित विस्मरण मिलाकर सम्यक् स्मरण-शक्ति होती है। अतः यहाँ पर स्मृति का अर्थ है—मैं कौन हूँ, इसका निरन्तर भान, आत्मा का निरन्तर भान।

**७२. मोह से स्मृति-भ्रंश होता है, अर्थात् यह होश नहीं रहता कि हम कौन हैं**

मनुष्य बार-बार आत्मा को भूलता रहता है। खेल के मैदान में जाकर वह कहता है, मैं खिलाड़ी हूँ। लड़ाई के मैदान में कहता है, मैं योद्धा हूँ। लड़के को देखते ही कहता है, मैं बाप हूँ। वह सदा भूल जाता है कि मैं तो खालिस रंगरहित, उपाधि-वर्जित, परिशुद्ध आत्मा हूँ। जिस परिस्थिति में जाता है, उसी रंग का हो जाता है। इसे कहेंगे स्मृति-भ्रंश। यों व्यवहार में भी हम स्मृति-भ्रंश का यही लक्षण मानते हैं। जब कोई मनुष्य अपने होश-हवास भूलकर अंट-शंट बड़बड़ाने लगता है तो हम कहते हैं, इसका दिमाग ठिकाने नहीं रहा, इसे भ्रम हो गया है। यही स्मृति-भ्रंश है। नदियाँ कितनी ही उमड़-उमड़कर और बढ़-बढ़कर समुद्र में जा गिरें, तो भी समुद्र शान्त ही रहता है; उनके सूख जाने पर भी वह सूखता

**७३. 'भान मिटता है', इसका अर्थ क्या?**

या घटता नहीं। अपनी गम्भीरता और शान्ति छोड़कर वह यदि नदियों के पीछे दौड़ने लगे, तो उसे हम क्या कहेंगे ? यही न कि समुद्र अपने-आपको भूल गया ? यही बात हमारी है। मैं सारी सृष्टि का साक्षी हूँ। वह भले ही मेरे पीछे लगे। मैं उसके चक्कर में पड़नेवाला नहीं ! मैं परिपूर्ण हूँ, मुझे किसी बात की कमी नहीं—यह भान ही स्मृति है। परिपूर्ण होते हुए भी अपूर्णता का भास होना स्मृतिभ्रंश है। स्वप्न में किसी राजा को दिखायी दिया कि वह भीख माँग रहा है तो हम कहेंगे कि वह अपना राजापन भूल गया। वैसी ही यह दशा है।

इस तरह जब मनुष्य अपना भान भूल जाता है, तो उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। अर्थात् वह विषयाधीन हो जाती है। बुद्धि जब विषयाधीन या विषयनिष्ठ हो जाती है, तो वह अपनी मूल स्थिति खो बैठती है। बुद्धि की मूल-स्थिति का नष्ट होना ही बुद्धि-नाश कहलाता है। मनुष्य जब अपने स्वरूप को भूल जाता है, तो उसकी बुद्धि अपने मूल स्थान से भ्रष्ट हो जाती है। 'स्मृति-भ्रंशात् बुद्धिनाशः।' बुद्धि के मानी हैं ज्ञान-शक्ति। आत्मा को जानने की सामर्थ्य उसीमें है। उस बुद्धि का उपयोग साधारण विषय-रस की विचिकित्सा में करना मानो उसका अधिकार ही छीन लेना है। माँ ने अपने बच्चे की उँगली में सोने की अँगूठी पहना दी। वह उसे दो पेड़ों के लिए हलवाई की दूकान पर बेच आया। यह वैसी ही बात है। बुद्धि एक सर्वकान्तिमय, सर्वप्रभावती शक्ति है। विचार के बराबर प्रभा, विचार के समान तेज दूसरी किसी भी वस्तु में नहीं। ऐसी विचारसमर्थ बुद्धि को ऐसे विषयों में खर्च करना मानो उसका नाश ही करना है। आत्मा का ज्ञान प्राप्त कर लेना बुद्धि की विशिष्ट सामर्थ्य है; किन्तु जब बुद्धि विषयनिष्ठ हो जाती है, तो वह उस सामर्थ्य से हाथ धो बैठती है। यह उसका नाश ही नहीं तो क्या है ? जिस बुद्धि ने आत्मनिष्ठता खो दी है वह यों चाहे कितनी ही सतेज दिखायी दे, वास्तव में यही समझना चाहिए कि उसने अपना

**७४. स्मृतिभ्रंश से बुद्धिनाश**

# आठवाँ व्याख्यान

## १

इन्द्रिय-निरोध का प्रज्ञा से क्या सम्वन्ध है, यह वात 'न'-कार से और 'हूं'-कार से, 'व्यतिरेक' से और 'अन्वय' से समझा रहे हैं।

**७५. पिछले विवेचन का सार : वुद्धि-नाश ही विनाश की अन्तिम सीढ़ी**

विपय-चिन्तन से लेकर वुद्धि-नाश तक की परम्परा व्यतिरेक द्वारा वतायी। वुद्धि-नाश इस परम्परा की अंतिम सीढ़ी है। इसके विपरीत अन्वय-परंपरा वताते हुए वुद्धि की स्थिरता को अंतिम सीढ़ी वतानेवाले हैं। उधर अन्त्य है वुद्धि की स्थिरता, इधर अन्त्य है वुद्धि का नाश। आगे जो 'वुद्धिनाशात् प्रणश्यति' कहा गया है वह इसलिए नहीं कि वुद्धिनाश के वाद अव और कोई सीढ़ी दिखाना वाकी रह गया है; वल्कि वह वाक्य तो वुद्धिनाश की भयंकरता दिखाने के लिए ही कहा गया है। वुद्धि गयी तो सव कुछ चला गया। उसे आत्म-नाश ही हुआ, ऐसा कहना होगा। अव और कुछ नष्ट होना वाकी नहीं रहा है—यह उसका अर्थ है। इसका खुलासा आगे हो जायगा।

हमने इस श्लोक के सभी पदों का सूक्ष्म अर्थ किया है। इसके वजाय यदि स्थूल अर्थ ही ले लें तो मनुष्य का समाधान वहुत थोड़े में

**७६. गीता को शब्दों के सूक्ष्म अर्थ ही अभिप्रेत हैं**

हो जायगा। थोड़े में ही वह अपने को 'स्थितप्रज्ञ' हुआ समझने लगेगा। उपनिषद् के एक समानार्थक वचन से भी यही जाना जा सकता है कि गीता के मन में स्थूल नहीं, वल्कि सूक्ष्म अर्थ ही समाया हुआ है। वह वचन यह है—"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।" इसका अर्थ—'आहार शुद्ध होने से चित्त की शुद्धि होती है, उससे अवि-

चल स्मृति-लाभ होता है। स्मृति-लाभ से मनुष्य के चित्त की सब गाँठें खुल जाती हैं।' यहाँ आहार शब्द का अर्थ केवल 'अन्न' ही नहीं, बल्कि सभी इन्द्रियों का आहार लेना चाहिए। गीता के 'निराहार' शब्द का भी हमने ऐसा ही अर्थ किया था यह ध्यान में होगा ही। पहले हमने भक्ति-मार्ग की जो विशुद्ध प्रक्रिया देखी है, वही यह है। अशुद्ध आहार को छोड़कर सब इन्द्रियों को शुद्ध आहार कराते जायँ तो उससे चित्त की या बुद्धि की शुद्धि होती है। ऐसा होने से 'ध्रुवा स्मृति' प्राप्त होती है, अपना भान स्थिर रहता है और फिर चित्त की सब गाँठें खुल जाती हैं। हमारे मन में भिन्न-भिन्न विचार-संस्कार की ग्रन्थियाँ या गाँठें होती हैं। इन्हें अंग्रेजी में 'कॉम्प्लेक्स' कहते हैं। बुद्धि शुद्ध होने का अर्थ है, इन सब गाँठों का खुल जाना। इन गाँठों के खुल जाने पर बुद्धि मुक्त, स्वतन्त्र हो जाती है। आईने की तरह साफ हो जाती है और फिर उसमें आत्मा का प्रतिबिम्ब झलकने लगता है।

इतना सारा कार्य यहाँ 'स्मृति-लाभ' से अपेक्षित है। अतः 'स्मृति' शब्द का अर्थ यहाँ साधारण 'स्मरण-शक्ति' नहीं कर सकते। मामूली

**७७. स्मृति बनाम स्मरण-शक्ति**

स्मरण-शक्ति वह है जिसे अंग्रेजी में 'मेमरी' कहते हैं और तर्कशक्ति के साथ जिसके विकास का प्रयत्न पाठशालाओं में किया जाता है। व्यवहार में मनुष्य का भुलक्कड़पना नहीं चल सकता। उसकी याददाश्त पक्की होनी चाहिए। तमोगुण में लीन मनुष्य भुलक्कड़ हो जाता है, इससे वह व्यवहार में कुशल नहीं होता। इतना तमोगुण न हो तो वह व्यवहारोपयोगी स्मरण रख सकता है। इतना ही उस सामान्य स्मरण-शक्ति का कार्य है; परन्तु इस स्मरण-शक्ति से कोई भी हृदय-ग्रन्थि खोलने की अपेक्षा नहीं रखेगा। उपनिषद् और गीता ने जिस स्मृति का उल्लेख किया है वह शक्ति नहीं, बल्कि चित्त की एक अवस्था है। आत्मा का नित्य स्मरण रहना उसका स्वरूप है। जब आत्मा का नित्य स्मरण रहेगा तो फिर दूसरे संस्कार हमारे चित्त पर चाहे कितना ही जोर का हमला करें, उनकी

छाप उस पर नहीं पड़ सकती। उन संस्कारों के हमलों का मुकावला करने के लिए जिस बुद्धि के पास आत्म-स्मृतिरूपी ढाल सतत रहती है, उसे आत्म-दर्शन होना विलकुल निश्चित है।

**७८. आत्म-स्मृति के अभाव में संस्कार-पराधीनता**

इसके विपरीत जिसमें आत्म-विस्मृति है, उसके चित्त पर वाहरी संस्कारों के ठप्पे पड़ जाते हैं। छोटे वच्चों के मन पर कोई भी संस्कार तुरन्त जम जाता है। हम कहते हैं, छोटे वच्चों का मन स्वच्छ रहता है, सुकोमल रहता है। किसी भी संस्कार को वह तुरन्त ग्रहण कर लेता है। परन्तु इसका कारण यह भी है कि छोटे वच्चों में आत्मविस्मृति पूर्णरूप से होती है, इससे वाहर की प्रत्येक वात उसके चित्त पर अंकित हो जाती है और हम उस चित्त को संस्कार-योग्य, संस्कार-सुलभ कहकर उसकी स्तुति करते हैं; परन्तु संस्कार यदि अच्छे होंगे तो वह अच्छा वनेगा, वुरे होंगे तो वुरा वनेगा। जैसे संस्कार होंगे, वैसे ही उस पर अंकित होंगे। इस दृष्टि से संस्कार-सुलभता को चित्त की भयानक दशा भी कहना होगा। जव यह कहा जाता है कि ज्ञानी का मन छोटे वच्चे की तरह होता है, तव उसका अर्थ यह नहीं होता कि वह संस्कार-सुलभ है; वल्कि यह होता है कि वह वच्चे के हृदय की तरह अकृत्रिम, दम्भ-रहित खुला और सहज होता है। हृदय में जव आत्म-स्मृति का अखण्ड जाग्रत पहरा होता है, तव उसे दूसरे संस्कारों का भय नहीं रहता। ऐसा व्यक्ति यदि चौराहे पर जाकर वैठ जायं, तो भी वह अपनी जगह पर स्थित रहता है। उसे कहीं भी डर नहीं रहता। वह रक्षण से परे हो गया है। आत्म-स्मृति के निरन्तर जाग्रत रहने से उसे अपने लिए वचाव की या वाड़ की जरूरत ही नहीं। नीति-शास्त्र के नियमों की वाड़ साधारण चित्त की रक्षा के लिए जरूरी होती है, वह स्थिति यहाँ नहीं है। जव आत्म-विस्मृति हो जाती है तो फिर वुद्धि वाहर के प्रहारों की पात्र वन जाती है। इससे उसे वाहर के कृत्रिम संरक्षण

की आवश्यकता प्रतीत होती है। परन्तु आत्म-स्मृति के अभाव में वे सब संरक्षण निरर्थक भी सिद्ध हो सकते हैं।

यहाँ 'स्मृति' शब्द का अर्थ आत्म-स्मृति ही उचित है। इसके लिए और भी एक प्रमाण दिया जा सकता है। यहाँ सम्मोह से स्मृति-भ्रंश और स्मृति-भ्रंश से बुद्धि-नाश ऐसी परम्परा बतायी गयी है। अब यदि इसकी विपरीत परम्परा ठीक-ठीक लगायी जाय तो वह कैसी बनेगी—इसका चित्र सामने खड़ा होने पर इन शब्दों के अर्थ पर प्रकाश पड़ेगा। इसकी उलटी परम्परा होगी—मोह-नाश होने से स्मृति-लाभ और स्मृति-लाभ से बुद्धि का सन्देह नष्ट होकर उसका स्थिर होना।

**७९. गीता-श्रवण का फलित मोह-नाश और तज्जन्य स्मृति-लाभ**

गीता-श्रवण के अन्त में अर्जुन ने उस समय की अपनी स्थिति का वर्णन करते हुए बिलकुल इन्हीं शब्दों में वह परम्परा दिखायी है। वह कहता है—"नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्ध्वा·····स्थितोऽस्मि गतसन्देहः!"—गीता-श्रवण से मेरा मोह नष्ट हुआ, स्मृति-लाभ हुआ, सब सन्देह दूर हो गये। अब यह देखने से कि अर्जुन को किस प्रकार का सन्देह हुआ था, 'मोह' शब्द का और उसके साथ ही 'स्मृति' शब्द का भी अर्थ समझ में आ जायगा।

ऐसा दिखायी पड़ता है कि अर्जुन को अपने कर्तव्य-अकर्तव्य के सम्बन्ध में मोह पैदा हो गया था। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ 'मोह' का अर्थ कर्तव्य-मोह ही करना चाहिए। यह मोह अर्जुन को किस कारण हुआ था? इस युद्ध में मुझे सब अपने ही लोगों को मारना पड़ेगा—इस खयाल से उसका चित्त व्याकुल हो गया। उसके चित्त की व्यवस्थिति, स्वस्थता, नष्ट हो गयी। उसमें हलचल मच गयी। 'ये अपने' और 'ये पराये' इस विचार से उसका मन क्षुब्ध हो गया। जब किसी कच्चे दिल के न्यायाधीश के सामने स्वयं उसीका लड़का अपराधी के रूप में पेश

**८०. 'मोहनाश' का अर्थ है, कर्तव्य का खुलासा**

किया जाता है तो उसके मन में यह भावना पैदा होने लगती है कि मेरा वेटा वच जाय तो अच्छा। अपने कर्तव्य-अकर्तव्य के विपय में उसका मन शंकाशील या डाँवाडोल हो जाता है। वह झूलने लगता है। वह दुविधा में पड़ जाता है। सूझता नहीं कि क्या करे? ऐसी स्थिति अर्जुन की हो गयी थी। अर्जुन ने गीता के प्रारम्भ में अपने सम्वन्ध में ऐसा ही कहा है—"पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः" मेरी वुद्धि सम्मोह से ग्रस्त हो गयी है। मुझे अव सूझ नहीं पड़ता कि क्या करूँ? इसलिए मैं तेरी शरण आया हूँ। इससे यह सिद्ध होता है कि अर्जुन को अपने कर्तव्य के सम्वन्ध में मोह हो गया था। यही गीता की मूल भूमिका है। अतः यह स्पष्ट है कि उसमें मोह का जो अर्थ है, वही यहाँ स्थित-प्रज्ञ के प्रकरण में भी ग्रहण करना चाहिए।

**८१. इसीके अनुषंग में क्रोध शब्द के अर्थ पर विचार**

जव इस वात का विचार करते हैं कि अर्जुन को मोह कैसे पैदा हुआ तो इसी अनुपंग में यह वात भी याद रखने लायक है कि इससे 'क्रोध' शव्द के अर्थ का भी स्पष्टीकरण हो जाता है। अर्जुन को मोह तो अवश्य हुआ, पर उसे स्थूल अर्थ में 'क्रोध' नहीं आ गया था। वह गुस्सा नहीं हो गया था, सन्तप्त नहीं हो गया था। ये मेरे ही अपने लोग मुझसे लड़ने के लिए तैयार खड़े हैं, इससे उसे विषाद हुआ और फिर उसमें से उसका कर्तव्य-मोह उत्पन्न हुआ। परन्तु गीता कहती है कि क्रोध से मोह पैदा होता है। अर्थात् गीता की दृष्टि में विषाद और क्रोध पर्यायवाची ही प्रतीत होते हैं। यह विषाद शव्द ध्यान देने जैसा है। प्रसन्नतासूचक तीन अक्षरों का 'प्र-सा-द' शव्द से विलकुल उलटे अर्थवाला तीन अक्षरों का 'वि-पा-द' शव्द है। और क्रोध का भी स्वरूप हम ऐसा ही प्रसन्नता-विरोधी देख चुके हैं। इस अर्थ में क्रोध और विपाद दोनों शव्द क्षोभसूचक सिद्ध होते हैं।

इस प्रकार के क्षोभ से अर्जुन के मन में कर्तव्याकर्तव्य के विपय

में मोह उत्पन्न हुआ और अर्जुन कहता है कि ईश्वर की कृपा से गीता-श्रवण का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ जिससे मेरा मोह नष्ट हो गया। फिर मोह के नष्ट हो जाने से मुझे स्मृति-लाभ हुआ और मेरे सारे सन्देह दूर हो गये—इस तरह ठेठ उपनिषदों की भाषा में उसने निःसंदेहता प्रकट की है। इससे स्मृति शब्द के अर्थ पर स्वच्छ प्रकाश पड़ता है। 'मेरे सब सन्देह छिन्न हो गये' इसका अर्थ ऐसा ही लेना चाहिए कि बुद्धि की मेरी सब गाँठें खुल गयीं, बुद्धि स्थिर हो गयी, मैं स्थित-प्रज्ञ हो गया। ऐतिहासिक अर्जुन के चक्कर में पड़कर हमें इन वचनों का अर्थ गौण समझना ठीक न होगा। उचित यही है कि हम किसी भी व्यक्ति का विचार न करते हुए शब्दों का यथाश्रुत सूक्ष्म अर्थ ग्रहण करें। मनुष्य की बुद्धि में ऐसा सहज गुण है कि वह ठेठ मूल तक जाकर शब्द का सूक्ष्म, अन्तिम और व्यक्ति-निरपेक्ष अर्थ ले सकती है और उसीमें मानव का श्रेय है। अर्जुन के 'स्थितोऽस्मि' ये शब्द भी सूचक हैं। 'स्थित' शब्द से 'स्थितप्रज्ञ' की याद आ ही जानी चाहिए।

८२. 'स्थितोऽस्मि गतसन्देहः' अर्थात् मैं स्थितप्रज्ञ हो गया

## २

परन्तु यदि हम शब्दों के ऐसे सूक्ष्म ही अर्थ करेंगे तो जन-साधारण के लिए वे उतने उपयोगी न हो सकेंगे। अच्छा, यदि हम अपनी पहुँच का ही मर्यादित अर्थ करें तो पहले बताये अनुसार थोड़े में संतोष पाने लगेंगे, जिससे आगे की प्रगति ही रुक जायगी। अतः आवश्यकता के अनुसार दोनों तरह के अर्थ ग्रहण करने चाहिए। नारद ने भक्ति-सूत्रों में इन शब्दों के स्थूल अर्थ किये हैं। उनके सूत्र हैं—

८३. नारद के सुझाव के अनुसार शब्दों के स्थूल अर्थ भी अपनी भूमिका के अनुसार लिये जा सकते हैं

"दुःसंगः सर्वथैव त्याज्यः। काम-क्रोध-मोह-स्मृतिभ्रंश-बुद्धिनाश-सर्वनाश-कारणत्वात्। तरंगायिता अपीमे संगात् समुद्रायन्ति।"

इसका अर्थ है—'कुसंगति को सब तरह से छोड़ना चाहिए; क्योंकि उससे काम, क्रोध, मोह, स्मृतिभ्रंश, इस परम्परा से वुद्धिनाश और सर्वनाश हो जाता है। मनुष्य के मन में ये विकार असल में तरंग की तरह अल्प हों तब भी वे कुसंग से समुद्र की तरह विशाल हो उठते हैं।' नारद के इन सूत्रों के अनुसार इन श्लोकों का प्रत्येक को अपनी-अपनी भूमिका देखकर, लेकिन प्रगतिशील अर्थ यथासम्भव कर लेना चाहिए।

इन दो श्लोकों का थोड़ा और पृथक्करण कर लेना ठीक होगा। पहले श्लोक में 'ध्यायतो विपयान् पुंसः' से प्रारंभ करके 'कामात् क्रोधोऽभिजायते' यहाँ समाप्त किया है। अगले श्लोकों में 'क्रोधात् भवति सम्मोहः' से लेकर बुद्धिनाश तक का भाग बताया है। यह ऐसा विभाजन क्यों किया गया?

**८४. बुद्धिनाश-परम्परा के विभाजन का रहस्य : पहले मन पर, फिर बुद्धि पर आक्रमण**

इसमें कोई योजना तो नहीं है? मनुष्य के चित्त के दो भाग हैं—मन और वुद्धि। पहले श्लोक में यह बताया गया कि विषयचिन्तन के फलस्वरूप मन पर उसका कैसा आक्रमण होता है। दूसरे श्लोक में इस वात का निरूपण किया गया है कि वुद्धि पर उसका प्रहार किस रूप में होता है। पहले-पहल विषयों का प्रहार मन पर होता है, सीधा वुद्धि पर नहीं। इससे मन के विकारयुक्त हो जाने पर भी वुद्धि सही-सलामत रहती है, ऐसा भास हो सकता है; परन्तु वह अधिक समय तक नहीं टिक सकेगा। अतः समय रहते ही सावधान होकर मन पर हमला होते ही उसे खदेड़ देना चाहिए। यों देखा जाय तो पहला धावा इन्द्रियों पर ही होता है। वह विषयों का पहला किला है। वहीं से उनका हमला लौटा देना चाहिए। आगे चलकर तीसरे अध्याय में इसका अधिक विवेचन किया गया है—'इन्द्रियाणि मनोवुद्धिः अस्याधिष्ठानमुच्यते।' इन्द्रियाँ, मन और वुद्धि ये कामना के आश्रय-रूप तीन किले हैं। इन्द्रियाँ सवसे बाहरी किला है। इसलिए लड़ाई का आरम्भ इन्द्रियों से ही करना पड़ता है। यह हम पहले ही देख चुके हैं।

# नवाँ व्याख्यान

## १

विषय-चिन्तन से प्रारम्भ होनेवाली बुद्धि-नाश की परम्परा का वर्णन किया जा चुका। अब अगले दो श्लोकों में इससे विपरीत परम्परा बतानी है। बुद्धि-नाश की इस परम्परा से हमको यह शिक्षा मिली कि इन्द्रिय-जय का अर्थ स्थूल और सूक्ष्म दोनों रूप में ग्रहण करना चाहिए। तभी बुद्धि की रक्षा होगी। तो यहाँ यह प्रश्न खड़ा होगा कि फिर क्या आत्मज्ञानी पुरुष अपनी इंद्रियों के समस्त व्यापार ही बन्द कर दे?

**८५. स्थिर बुद्धि की परम्परा का आरम्भ : राग-द्वेष छोड़कर इन्द्रियों का उपयोग करनेवाला प्रसाद पाता है।**

इस प्रश्न का उत्तर अब आगे दिया जाता है।

**रागद्वेष-वियुक्तैस्तु विषयान् इन्द्रियैश्चरन्।**
**आत्मवश्यैर् विधेयात्मा प्रसादं अधिगच्छति॥**

अर्थात्—"विषयों के प्रति वैराग्य स्थिर हो जाने पर इन्द्रियाँ स्वाधीन हो जाती हैं। इन स्वाधीन इन्द्रियों के द्वारा विषयों का सेवन करनेवाला पुरुष प्रसाद अर्थात् प्रसन्नता पाता है।" इसका आशय यह है कि ज्ञानी मनुष्य ही निर्भयतापूर्वक इन्द्रिय-व्यवहार कर सकता है। जिनकी सत्ता इन्द्रियों पर नहीं चलती, उनको भय है। जिनको भय है उन्हें निर्भय की तरह हर्गिज नहीं विचरना चाहिए। इन्द्रियों के व्यवहार में राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। यह खतरा जिसने हटा दिया वह व्यक्ति इन्द्रियों के सभी उचित व्यापार करेगा; बल्कि उसकी दृष्टि में तो सभी व्यवहार आध्यात्मिक ही हो जायँगे। इतना ध्यान रखना पर्याप्त है कि इन्द्रियों को अपनी खुराक देते हुए राग-द्वेष उत्पन्न न हों। प्रसन्नता-प्राप्ति के लिए इन्द्रिय-जय

आवश्यक है; परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हम इन्द्रियों से कुछ काम ही न लें। इन्द्रियों से यदि कोई काम ही न लेना हो तो फिर इन्द्रिय-जय की आवश्यकता भी नहीं रहेगी। मुख्य बात यह है कि हम इन्द्रियों के अधीन न हों। चाकू का उपयोग करना और चाकू के अधीन होना, दोनों में अन्तर है। चाकू से पेन्सिल छीलना चाकू का उपयोग है। उँगली पर चलाकर हाथ ही छील लेना चाकू के अधीन हो जाना है। इन्द्रियों का उपयोग भगवान् की सेवा में करना चाकू से पेन्सिल छीलने-जैसा है; परन्तु इन्द्रियों के वश होकर बुद्धि-नाश कर लेना चाकू से उँगली काट लेने-जैसा है।

**८६. दोनों परम्पराओं की *मुख्य सीढ़ियाँ : बीज, शक्ति और फलित***

बुद्धि-नाश की परम्परा जैसी ब्योरेवार बतायी है, वैसी विपरीत परम्परा सविस्तर नहीं बतायी गयी। एक परम्परा यदि व्यवस्थित रूप से बता दी गयी है, तो उसमें दूसरी अपने-आप आ जाती है। फिर परम्परा की सारी सीढ़ियाँ एक-सा महत्त्व नहीं रखतीं और आदि, मध्य, अन्त अथवा शास्त्रीय भाषा में कहें तो बीज, शक्ति और फलित—इन तीन सीढ़ियों को याद रखें तो पर्याप्त है। विषय-चिन्तन बीज है। उससे अप्रसन्नता या चित्त-चलन ( मैं 'क्रोध' शब्द को छोड़ ही देता हूँ ) यह शक्ति हुई और बुद्धि-नाश हुआ फलित। इसके विपरीत क्रम में, विषयों से राग-द्वेष उत्पन्न न होने देना बीज, प्रसन्नता शक्ति और बुद्धि की स्थिरता यह फलित हुआ। तीन मुख्य सीढ़ियाँ बता दी गयी हैं। उनके आधार पर परिपूर्ण परम्परा बैठायी जा सकती है।

**८७. प्रसाद शब्द के अर्थ में भ्रम**

'प्रसाद' शब्द के अर्थ पर बहुत-कुछ विचार किया, फिर भी वह कुल मिलाकर भ्रम फैलानेवाला हो गया है। उसका अर्थ 'प्रसन्नता' करने से भी भ्रम दूर नहीं होता। प्रसन्नता का अर्थ आजकल उल्लास, आनन्द किया जाता है; परन्तु वस्तुतः प्रसाद अथवा प्रसन्नता का अर्थ उल्लसित वृत्ति या हर्ष नहीं है। प्रसाद का अर्थ है

न विषाद, न हर्ष। परन्तु लोग उसका अर्थ प्रायः हर्ष ही करते हैं। तुलसीदासजी ने श्री रामचन्द्रजी की मुख-श्री का वर्णन करते हुए कहा है :

प्रसन्नतां या न गताभिषेकत: ।
तथा न मम्ले वनवासदुःखतः ।।
मुखाम्बुज-श्री रघुनन्दनस्य मे ।
सदास्तु सा मंजुल-मंगल-प्रदा ।।

"राज्याभिषेक की बात सुनकर जिस पर प्रसन्नता नहीं उमड़ी और वनवास का कष्ट सामने खड़ा होते हुए भी जिस पर विषाद की छाया नहीं पड़ी, वह राम की मुख-कान्ति हमारा नित्य मंगल करे।" यह स्पष्ट है कि यहाँ तुलसीदासजी ने 'प्रसन्नता' शब्द का अर्थ, जैसा कि लोगों में रूढ़ था, वैसा ही किया है; परन्तु भाषा की शास्त्रीयता के लिए मैं तुलसीदासजी से सिफारिश करूँगा कि वे 'प्रसन्नतां या न गता' की जगह 'प्रहृष्टतां या न गता' का प्रयोग करें। श्रीराम की मुख-मुद्रा हर्ष-विषाद-रहित थी, यही वे कहना चाहते हैं। इसीका नाम है प्रसन्नता।

प्रसन्नता का अर्थ है निर्विकारता, शान्ति, गांभीर्य। 'गांभीर्य' शब्द से डर लगता हो तो उसे छोड़ दीजिये। 'प्रसन्नता' शब्द से तो भय नहीं होना चाहिए। प्रसन्नता का मतलब है—राग-द्वेष-रहितता, स्वच्छता, निर्मलता। उसका लक्षण ऐसा भी किया जा सकता है—'जिसके दर्शन-मात्र से दुःख शमन होता है वह है प्रसन्नता।' किसीका लड़का मर गया। इससे उसका चित्त खिन्न हो गया। कहीं भी मन नहीं लगता था। वह एक झरने के किनारे जाकर बैठ गया। मन कुछ लगा—शान्त हुआ। यह गुण उस झरने की निर्मलता का है। निर्मलता स्वयं-प्रचारक है। उसका प्रभाव सहज ही पड़ता है। उसका दर्शन होने से वह अवश्य

**८८. वस्तुतः प्रसाद का अर्थ है प्रसन्नता अर्थात् स्वास्थ्य**

आनन्द उपजाती है। 'प्रसन्नता' का अर्थ व्यक्त करने के लिए भाष्यकार ने 'स्वास्थ्य' शब्द का प्रयोग किया है, वह ठीक ही है। 'स्वास्थ्य' शब्द में शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के आरोग्य का समावेश हो जाता है। वैद्यक-शास्त्र के अनुसार शारीरिक स्वास्थ्य का अर्थ है—शरीर में धातुसाम्य रहना और मानसिक आरोग्य का अर्थ है चित्त की समता और मानसिक शान्ति। इस तरह दोनों अर्थों का संग्राहक यह 'स्वास्थ्य' शब्द 'प्रसन्नता' का समुचित पर्याय माना जा सकता है।

**'प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।'**

इन्द्रिय-जय द्वारा प्राप्त प्रसन्नता से सब दुःख तत्काल नष्ट हो जाते हैं। गीता ने प्रसन्नता की ऐसी विशेषता बतायी है। दूसरे सुख-साधनों से तो कुछ ही दुःख दूर होते हैं और सो भी थोड़े समय के लिए। भोजन से भूख मिटती है, थोड़ी देर के बाद फिर लगती है। नींद से थकान मिट जाती है, फिर नींद की भी थकान आती है। इस तरह भिन्न-भिन्न दुःखों को दूर करने के लिए भिन्न-भिन्न सुख-साधनों का सतत प्रयोग करते रहना पड़ता है; परन्तु प्रसन्नता से सभी दुःख झड़ जाते हैं, क्योंकि जहाँ से दुःख पैदा होता है वहीं प्रसन्नता अपना डेरा डाले रहती है। विज्ञान द्वारा यह प्रयोग सिद्ध हो चुका है कि यदि दुःख की संवेदना मस्तिष्क तक न पहुँचे तो दुःख का अनुभव नहीं होता। इसी तरह जिसके चित्त में प्रसन्नता का झरना बहता है, दुःख उसके मन को डिगा नहीं सकता। अँधेरी गुफा में दिया ले जाने से अँधेरा मिट जाता है, ऐसा कहने की अपेक्षा यह कहना ज्यादा उचित होगा कि अंधकार को ही प्रकाश का रूप प्राप्त हो जाता है। इसी तरह जहाँ अन्तःकरण निर्मल अर्थात् प्रसन्न है वहाँ दुःख ही सुखरूप हो जाता है, क्योंकि सारे दुःख

८६. प्रसन्नता से सब दुःख सदा के लिए मिट जाते हैं, क्योंकि दुःखमात्र मनोमल का परिणाम है।

मनुष्य के मनोमल के परिणाम हैं। फिर वे दुःख चाहे शारीरिक हों या मानसिक।

## २

**प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।**

चित्त जब प्रसादयुक्त अथवा प्रसन्न हो जाता है तो फिर बुद्धि देखते-देखते स्थिर हो जाती है। प्रसन्नता आयी कि फिर स्थितप्रज्ञता आने में देर नहीं लगती। निर्विकारता अथवा प्रसन्नता चित्त की स्थिरता का प्रत्यक्ष साधन है। चित्त की स्थिरता के जो दूसरे साधन

**६०. प्रसन्नता से स्थिर बुद्धि सहज साध्य**

माने जाते हैं उनसे चित्त बस थोड़ी देर के लिए एकाग्र होता है। ये साधन कृत्रिम और क्षणस्थायी ही होते हैं; परन्तु चित्त का मल निकाल डालने से स्थिरता अपने-आप और सदा के लिए आ जाती है, और जब स्थिरता ही चित्त की सहज अवस्था हो जाती है तो यह व्यग्रता ही बोझिल लगती है।

छोटे बालक के चित्त में जो एकाग्रता रहती है, उसका कारण भी यही है। छोटे शिशु की आँखों की तरफ टकटकी लगाकर देखिये।

**६१. शिशु का दृष्टान्त**

वह अपलक एकटक देखता ही रहता है। उतने ही समय में हम दस-पाँच बार पलक खोलते और मूँदते हैं। उसकी आँखों के सामने योगियों की मुद्रा भी हार जायगी। इसका कारण है उसके चित्त की निर्मलता। हाँ, उसमें निर्भयता उतनी नहीं रहती है। इससे भय मालूम होते ही उसकी आँखें मुंद जाती हैं। शिक्षण-शास्त्र में छोटे बच्चे का चित्त व्यर्थ ही विवाद का विषय बन बैठा है। कुछ शिक्षा-शास्त्री कहते हैं कि छोटे बच्चे का चित्त बहुत चंचल रहता है। पर वस्तुतः उसका चित्त चंचल नहीं रहता, इनका रहता है, परन्तु आरोप उस पर किया जाता है। 'उलटा चोर कोतवाल को डाँटे' इसीको कहते हैं। छोटे

वच्चे के लिए एकाग्रता विलकुल मुश्किल नहीं। हमारे यहाँ चरखा चलाते हुए छोटे वच्चों का ऐसा ध्यान लग जाता है कि उसे देखकर वड़े-वड़े लोगों को भी आश्चर्य होता है, लेकिन इसमें आश्चर्य की कोई वात नहीं। सतत वहनेवाली धार एकाग्रता में सहायक होती है। इसीलिए महादेव की पिंडी पर अभिषेक की धार छोड़कर एकाग्रता का अभ्यास किया जाता है। किसी अखण्ड वहनेवाले झरने के किनारे वैठने पर चित्त एकाग्र हो जाता है। इसी तरह सूत का धागा सतत निकलते देखकर छोटे वच्चे का निर्मल मन सहज ध्यानस्थ हो जाता है। हाँ, दिमाग कमजोर होने से उसका ध्यान अधिक समय तक नहीं टिकता, यह वात दूसरी है; परन्तु एकाग्रता उसके लिए वहुत सहज है। सहज भी कितनी? मुँह में जरा-सी मिश्री पहुँची नहीं कि वह सारी दुनिया भूलकर उसकी मिठास में लवलीन हो जाता है। एकदम रोना वन्द कर देता है। वच्चा जव रोने लगता है तो माँ कहती है—वह देख, क्या फुदकता है? वच्चा अपनी सारी वृत्तियों को समेटकर कौए की तरफ देखने लगता है। फौरन् तन्मयता हो जाती है। इस सहज एकाग्रता की वदौलत ही वह शिक्षा तेजी से और तुरत ग्रहण करता है। इस सहज एकाग्रता का कारण है चित्त में मल का न होना। चित्त-शुद्धि ही स्थायी एकाग्रता का मुख्य और प्रत्यक्ष साधन है, शेष सव कोरे वाह्य उपचार हैं।

**६२. समाधि कहते हैं मूल स्थिति को; उसे वाह्य साधनों की आवश्यकता नहीं**

जव चित्त में वासनाएँ भरी हुई हैं, तव केवल वाह्य साधनों से एकाग्रता कैसे होगी? सुवह का समय हो, नींद पूरी हो चुकी हो, शौच-स्नान से निवृत्त हो चुके हों जिससे चित्त तरोताजा हो गया हो, आसन पर तनकर वैठे हों, दृष्टि अर्धोन्मीलित हो, ध्यान के लिए कोई श्लोक या नाम गुनगुना रहे हों, कोई मूर्ति, चित्र, ज्योति या जलधारा आँखों के सामने हो, कहीं से शांत संगीत का सुमधुर स्वर सुनायी दे रहा हो—तव जाकर, इतनी सारी अनुकूलताओं के वाद

कहीं दस-पाँच मिनट एकाग्रता सधती है ! वह तो बाह्य साधनों से ही आयी होती है, अतएव कायम कैसे रहेगी ? समाधि यदि आत्मा की मूल अवस्था है तो वह सहज होनी चाहिए। इसके लिए बाह्य प्रयत्नों की आवश्यकता ही न रहनी चाहिए। वह कुछ भी न करते हुए ही लगनी चाहिए, बल्कि रहनी चाहिए। खाना-पीना, देखना-सुनना, चलना-फिरना इत्यादि क्रियाएँ हैं, अतः इनके लिए परिश्रम, प्रयत्न चाहिए, यह ठीक ही है। परन्तु समाधि तो मूल स्थिति है। उसके लिए बाह्य प्रयत्न की, परिश्रम की, क्या जरूरत है ?

महाभारत में एक वचन है—"चित्त की शुद्धि होने पर छह महीने में समाधि लग जाती है।" इसका अर्थ इतना ही समझना

**९३. चित्त-शुद्धि हुई कि समाधि लगी**

चाहिए कि व्यासदेव को उनके खयाल के अनुसार चित्त-शुद्धि होने के छह महीने के बाद समाधि लाभ हुआ, नहीं तो चित्त-शुद्धि होने पर फिर यह छह महीने की झंझट क्यों ? और छह महीने का अर्थ क्या १८० दिन ही ? १७९ से काम नहीं चलेगा ? इसका अर्थ ही यह है कि अभी चित्त-शुद्धि पूरी नहीं हुई। व्यासदेव से यदि कुरेदकर ही पूछेंगे तो वे कहेंगे—मेरी गीतावाली भाषा ही ठीक है। गीता कहती है, "जिस क्षण चित्त-शुद्धि होती है उसी क्षण एकाग्रता सध जाती है।" अब, सब प्रकार के प्रयत्न छोड़ना ही जिस अवस्था का स्वरूप है, वह सहज ही सधनी चाहिए, यह कहने की जरूरत नहीं है। बालकोबा[1] कहता है—"मैं कोशिश करता हूँ, पर नींद नहीं आती।" मैं उससे कहता हूँ—"तुम कोशिश करते हो, इसीसे नहीं आती। कोशिश ही नींद के विरुद्ध है।" कोशिश छोड़ देने से नींद अपने-आप आ जाती है, यही बात एकाग्रता की है। सारे प्रयत्न छोड़ देने के बाद ही सच्ची एकाग्रता, सहज एकाग्रता, सधती है। एकाग्रता के साधन ही चित्त पर उलट पड़ते हैं और क्षणिक एकाग्रता के बाद फिर व्यग्रता आ जाती है।

---

१. विनोबाजी के छोटे भाई।

परन्तु इसका यह अर्थ हर्गिज नहीं है कि जव तक सहज एकाग्रता न सध जाय तव तक वाह्य साधनों से एकाग्रता का अभ्यास न किया जाय। साधक को साधना में वाह्य साधनों से भी सहायता मिल सकती है। अतः उनका उपयोग कर लेना उचित ही है। और इसलिए गीता के छठे अध्याय में साधकों के उपयोग के लिए उनको थोड़े में

**९४. फिर भी तात्कालिक उपाय के रूप में वाह्य साधन भी उपेक्षा-योग्य नहीं**

वताया भी है। साधना के लिए सवसे अनुकूल समय प्रातःकाल है। वह अनुपम है; मानो वह सत्त्वगुण का ही प्रतीक है। अंधकार चला गया है, प्रकाश अभी आया नहीं है। दिन रजोगुण का प्रतिनिधि है और रात तमोगुण की। और संधि-काल सत्त्वगुण का, आत्मा के समत्व का, प्रशान्तता का प्रतिनिधि है। इसीलिए सन्धि-काल में उपासना का विधान किया गया है। उस समय का दृश्य वड़ा रमणीय, पवित्र और उद्‌वोधक होता है। वह समय एकाग्रता के प्रयोग के लिए वहुत उपयुक्त है। सुवह का समय खो दिया तो मानो सारा दिन ही व्यर्थ गया। अतः उस समय का उपयोग ध्यान के लिए करना निःसंशय श्रेयस्कर है; परन्तु चित्त को वाहर से टेका—सहारा—देकर खड़ा करना एक वात है और दीवार की तरह उसका अपने से सीधा तनकर खड़ा रहना दूसरी वात है। इसलिए अन्ततः गीता का संकेत ही उचित है। जव चित्त शुद्ध हो जाता है, निर्विकार हो जाता है, तो वह खुद अपने वल पर स्वाभाविक सीधा खड़ा रहेगा। और यही संकेत पतंजलि ने भी कर रखा है। उनकी भाषा में ध्यानयोग के लिए यम-नियमों का आधार आवश्यक है। यम-नियम चित्त-शुद्धि की साधना ही है। जव चित्त-शुद्धि हो जाती है, प्रसन्नता प्राप्त हो जाती है, तो फिर वुद्धि के स्थिर होने की या एकाग्रता की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है।

"प्रसन्नचेतसो ह्याशु वुद्धिः पर्यवतिष्ठते।"

# दसवाँ व्याख्यान

## १

अब तक अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा यह बताया गया कि संयम से प्रसन्नता प्राप्त होती है और उससे बुद्धि स्थिर होती है और असंयम से चित्त-क्षोभ होता है और उससे बुद्धि-नाश होता है, बुद्धि की स्थिरता नष्ट होती है। इससे संयम का महत्त्व अपने-आप सिद्ध हो जाता है और यदि कोई ऐसी दीर्घ शंका ही करे कि बुद्धि की स्थिरता चली गयी तो क्या बड़ा नुकसान होगा, तो उसका भी उत्तर 'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति' इस वाक्य के द्वारा दे दिया है। वस्तुतः ऐसी शंका किसीको करनी नहीं चाहिए; और करे तो भी उसका उत्तर किसीको देना नहीं चाहिए। परन्तु गीता ने केवल वह उत्तर ही नहीं दिया है, बल्कि उसे सविस्तर समझाने के लिए एक और श्लोक खर्च किया है। 'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति' यह तो एक बच्चा भी समझ लेता है—फिर उसे इतना विस्तार से समझाने की क्या जरूरत! परन्तु यह तो एक निमित्तमात्र है। इसके निमित्त से जीवन-मूल्यों का निरूपण करना है। यह मन में दृढ़ करना है कि वे सभी स्थिर-बुद्धि पर, और, इसीलिए संयम पर अवलम्बित हैं। सद्भावना, चित्त की शान्ति और आत्म-सुख ये तीन जीवन के अतुलनीय मूल्य हैं और तीनों स्थिर बुद्धि के अभाव में खतरे में जा पड़ते हैं। अतः स्थिर बुद्धि और तत्साधक संयम, ये भी उतने ही महत्त्व के मूल्य हैं; बल्कि ये अंतिम दो तो स्वतन्त्र भी मूल्य हैं। साधक के व्यक्ति-विकास के ही लिए नहीं, बल्कि कुल मिलाकर सारे समाज के त्रैकालिक स्वास्थ्य के लिए भी। इससे अधिक

**६५. बुद्धि-नाश की अनर्थकारिता बताने के निमित्त जीवन के पाँच मूल्यों का अवतरण**

उपयोगी अथवा भिन्न मूल्य विचारक लोग नहीं दिखा सके हैं। ये सभी एक छोटे-से सूत्र-वाक्य में गूँथ दिये गये हैं, अतः मैं इसे पंचरत्नी कहता हूँ।

**नास्ति बुद्धिर् अयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।**
**न चाभावयतः शान्तिर् अशान्तस्य कुतः सुखम्॥**

यह है वह सूत्र-वाक्य। इसका अक्षरशः अर्थ यह होगा—'अयुक्त को बुद्धि नहीं, अयुक्त को भावना नहीं। भावना के विना शान्ति नहीं, शान्ति के विना सुख नहीं।'

**९६. सर्वाधार संयम : संयम के विना बुद्धि नहीं**

यह सूत्र ही है, इसलिए इस पर भाष्य करने की आवश्यकता है। 'अयुक्त को बुद्धि नहीं'—यह तो अब तक जो मीमांसा की गयी उसका फलित बताया है। अयुक्त अर्थात् असंयमी पुरुष को। संयम से बुद्धि और उसके अभाव में बुद्धि-नाश, इन दो अन्वय-व्यतिरेकी न्यायों की वह निष्पत्ति है। अर्थात् यह केवल पूर्वानुवाद है। "**अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते।**" अयुक्त पुरुष स्वैर-वृत्ति के कारण फलाशा में फँसकर बाँधा जाता है, ऐसा पाँचवें अध्याय का वचन है। इससे 'अयुक्त' शब्द के अर्थ पर प्रकाश पड़ता है। अयुक्त का अर्थ है आसक्त, कामना-ग्रस्त; अक्षरार्थ से 'युक्ति-रहित।' युक्ति का अर्थ है संयम की युक्ति, यह हम पहले ही देख चुके हैं। इसे जीवन की कुंजी ही समझिये। जब यह मालूम हो जाता है कि व्यक्ति और समाज का रुख संयम की ओर है या स्वच्छन्दता की ओर, त[ब] उसके जीवन का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। अतः इसे जीवन [का] पहला मूल्य कह सकते हैं। दूसरा मूल्य है इसीसे निर्माण होनेवा[ली] स्थिर बुद्धि।

यहाँ तक इस सूत्र में कहीं भी बाधा नहीं है, परन्तु इसके

सूत्र खण्डित-जैसा लगता है। 'अयुक्त को बुद्धि नहीं और अयुक्त को भावना नहीं' ऐसी भाषा आगे बोली गयी है, वह त्रुटित है। गीता कहना चाहती है कि भावना जीवन का तीसरा मूल्य है। उससे शान्ति और शान्ति से सुख, इस प्रकार आगे के मूल्य बताये हैं। भावना के बिना शान्ति नहीं, शान्ति के बिना सुख नहीं, ऐसा कहने से भावना की आवश्यकता समझ में आ गयी। संयम से लेकर सुख तक की शृंखला संयम, भावना, शान्ति, सुख—इस तरह जुड़ गयी, परन्तु बीच में ही यह बुद्धि क्यों ले आये ? बुद्धि और भावना का कुछ भी सम्बन्ध नहीं बताया गया, इससे बुद्धि अधर में ही रह गयी। यदि बुद्धि को एक तरफ रखकर भी संयम की आवश्यकता सिद्ध करनी हो तो वह इस सूत्र से हो सकती है, परन्तु ऐसा अपेक्षित नहीं है। संयम की आवश्यकता तो है, पर वह बुद्धि के द्वारा दिखानी चाहिए। किसी भी तरह से देखें, यह वाक्य अधूरा ही लगता है। इसलिए **'नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चाबुद्धस्य भावना'**—संयम के बिना बुद्धि नहीं और बुद्धि के बिना भावना नहीं, ऐसा वाक्य यहाँ होना चाहिए था। परन्तु वर्तमान वाक्य को ही गृहीत करके **'स्थितस्य गतिश् चिन्तनीया'**—इस न्याय के अनुसार उसमें यह सुसंगत अर्थ बैठाना चाहिए। इसलिए **'नास्तिबुद्धिर् अयुक्तस्य, अतएव न च अयुक्तस्य भावना'** ऐसा, 'अतएव' शब्द का अध्याहार मानकर काम चलाना होगा। कुल मिलाकर ऐसा अर्थ निष्पन्न हुआ—"संयम के बिना बुद्धि नहीं, बुद्धि के बिना भावना नहीं, भावना के बिना शान्ति नहीं, शान्ति के बिना सुख नहीं।"

९७. आगे का अध्याहार : बुद्धि के बिना भावना नहीं

## २

तो संयम से लेकर सुख तक अखण्ड शृङ्खला बताते हुए बीच की एक कड़ी जोड़ना छूट कैसे गया होगा, ऐसी शंका यहाँ हो सकती है। इसका उत्तर यह है कि भगवान् ने यहाँ बुद्धि और भावना का अद्वैत ही मान लिया जान पड़ता है। इस कल्पना में एक विशेष दर्शन है। भावना से भगवान् का अभिप्राय है 'परिनिष्ठित बुद्धि', बुद्धि की परिपक्वता। बुद्धि जब इतनी परिनिष्ठित हो जाती है कि उसे अब विचार करने की आवश्यकता नहीं रही तो उसे भावना कहते हैं।

**९८. अध्याहार की खूबी : बुद्धि से भावना अलग नहीं; परिनिष्ठित बुद्धि ही भावना है**

कुछ-कुछ बातों में बुद्धि इतनी दृढ़ हुई होती है कि फिर विचार करने की आवश्यकता ही नहीं रहती। यह सुनते ही कि खून हो गया, बिना विचारे मुँह से निकल पड़ता है—'बड़ा बुरा हुआ!' इसे भावना कहते हैं। ऐसी कुछ भावनाएँ समाज के हृदय में घुली हुई रहती हैं। उन पर पुनर्विचार करने की जरूरत नहीं रहती। मनुष्य-समाज द्वारा उन विषयों पर लाखों बार विचार करके निर्णय लिया होता है। जैसे आप किसी भारतीय समाज के मनुष्य से पूछेंगे कि क्या शराब से कुछ भी फायदा नहीं है? शराब प्रमाण से पिया करें तो क्या हर्ज है? तो वह कहेगा—'भाई, मैं यह कुछ नहीं जानता। तुम्हारी बातें मेरे गले नहीं उतरतीं।' हमारे पूर्वजों ने हजारों प्रयोग किये हैं और यह निर्णय कर रखा है। कुरान में कहा है—'शराब से फायदा कम है, नुकसान ज्यादा।' यह तो मूल शास्त्रकारों का तर्कशास्त्र हुआ। पर जब एक बार बुद्धि पक्की होकर भावना में परिणत हो गयी तो फिर तर्क आवश्यक नहीं रहता। तब वह स्वयं सत्य हो जाता है!

**९९. परिनिष्ठित बुद्धि-रूप भावना के उदाहरण**

बुद्धिपूर्वक किये गये प्रयोगों के परिणामस्वरूप जो भावनाएँ समाज में प्रतिष्ठित हो चुकी हैं वे सामाजिक प्रगति की द्योतक होती हैं। युद्धों में इतने आदमी मारे जाते हैं तो यह सवाल पूछने को मन होता है कि जब ये मारे ही जाते हैं तो फिर इन्हें खा क्यों नहीं डालते? होते तो ये बड़े हट्टे-कट्टे लोग हैं। अब यदि शास्त्र-दृष्टि से यह सिद्ध हो जाय कि इनका मांस ठीक नहीं है, तो बात दूसरी है; परन्तु बहुत करके यही फैसला होगा कि मनुष्य का मांस मनुष्य को जल्दी आत्मसात् हो जायगा। अतः यदि और प्राणियों की तरह मनुष्य को ही हम खाने लगें तो अनाज की कमी उतनी न रहेगी। और यदि यह मालूम हो जाय कि मारे गये लोग खाने के काम में आते हैं तो सम्भव है कि सैनिक लोगों को उन्हें मारने में अधिक उत्साह आयेगा। परन्तु बावजूद इसके यह निश्चित हो चुका है कि मनुष्यों को खाना नहीं चाहिए। इसका कारण यह है कि हमारी भावना ही ऐसी बन चुकी है। उसके मूल में अनुभव-सिद्ध बुद्धि है। मनुष्य का मनुष्य को मारना बुरा ही है; पर यदि यह रास्ता खोल दिया जाय कि मनुष्य मनुष्य को खा सकता है, तो और भी अनर्थ होगा—फिर तो समाज के पतन की कोई सीमा ही न रहेगी। यह बात मनुष्य के मन में इतनी गहरी बैठ चुकी है कि अब इसके लिए तर्क करने की गुंजाइश ही नहीं रही है। यह सद्-भावना का बढ़िया उदाहरण है। ऐसी अनेकविध उन्नत भावनाएँ जिस समाज में पैवस्त हो चुकी हों वह समाज शान्तिमय रहता है। इसके विपरीत जिस समाज के विचार कभी खतम ही नहीं होते, हमेशा हर बात में सन्देह और अनिर्णय रहता है, बुद्धि परिनिष्ठित नहीं होती, उस समाज में सदा अशांति ही रहेगी।

**१००. प्रगत समाज में अनेक भावनाएँ घुली हुई रहती हैं। उन्हींसे समाज में शांति रहती है।**

इतिहास के अनुभव से कुछ भावनाएँ समाज में स्थिर हो जाती

संतुलन रहता है। परन्तु सभी भावनाएँ बुद्धि-युक्त होती हों सो बात नहीं। अतः उन पर बुद्धि का प्रकाश डालकर उन्हें जाँच लेना चाहिए।

**१०१. परन्तु समाज में पैवस्त भावना सर्वथा बुद्धियुक्त ही होती हो, सो बात नहीं। अतः भावना के कुशल संशोधन की आवश्यकता**

भावना के जितने अंश के मूल में बुद्धियुक्तता पायी जाय, उसे कायम रखना चाहिए। जितना अंश अबुद्धि-युक्त हो, उसे निकाल डालना चाहिए। लेकिन भावना का समूल उच्छेद न करना चाहिए। उसकी शुद्धि और विकास करना चाहिए, नहीं तो समाज़ में फिर कोई भी स्थिर मूल्य न रहेगा। उसका तौल नहीं सँभाला जा सकेगा। अशान्ति और अव्यवस्था का बोल-बाला हो जायगा! सामाजिक सद्‌भावनाओं के कुछ उदाहरण तो हमने देख लिये। अब और कुछ उदाहरण हम देख लें, जिससे यह मुद्दा ज्यादा स्पष्ट हो जायगा।

हमारा समाज भावना से मांसाहार को गौण समझता है। उसके फलस्वरूप कुछ सारी-की-सारी जातियों ने मांस छोड़ दिया है;

**१०२. संशोध्य भावना का एक उदाहरण : मांसाहार निवृत्ति**

परन्तु बाद में ये जातियाँ अपने को उच्च समझने लगीं। इतना ही नहीं, कुछ जातियों को अछूत तक मानने की नौबत आ गयी। इस ऊँच-नीच भेद में और भी कुछ बातें मिली हुई हों, फिर भी कुछ जातियों की मांस-विषयक वर्ज्य-भावना का अंश उसमें है ही। यह भावना तो उचित है, परन्तु उसके अनुषंग में आये ऊँच-नीच भेद को छोड़कर ही उसको अपनाना और पुष्ट करना पड़ेगा।

हमारे समाज में ऐसी ही एक और भावना है और वह है अन्नदान का महत्त्व। सब दानों में अन्न-दान श्रेष्ठ और निर्दोष माना गया है। परन्तु समाज में उस भावना का विनियोग करते हुए आज

उसे विकृत और अनिष्ट रूप प्राप्त हो गया है। परन्तु इस कारण उसके मूल में निहित सन्देश को भुला देना इष्ट न होगा। उसे सुधार-

**१०३. दूसरा उदाहरण : अन्नदान-संबंधी श्रद्धा**

कर परिपुष्ट करना चाहिए। अन्नदान को श्रेष्ठ मानने में यह कल्पना गृहीत है कि प्रत्येक भूखे मनुष्य को भोजन का अधिकार है। उसे भोजन देना समाज का कर्तव्य है। अन्नदान मनुष्य को सीधे ही पहुँच जाता है। दूसरी तरह से सहायता पहुँचाने में दूसरी एजेन्सियाँ, दूसरे मध्यस्थ आड़े आते हैं। परन्तु यह सावधानी जरूर रखनी चाहिए कि जिसका पेट भरा हुआ है उस पर और अन्न का भार न लादा जाय, अन्नदान का अतिरेक न हो जाय, उससे आलस्य को प्रोत्साहन न मिले। मूल भावना को स्थिर रखकर विनियोग की पद्धति में इष्ट सुधार करना चाहिए। बुद्धि के प्रकाश में भावना को शुद्ध करने का सामाजिक दर्शन हमें इसमें से मिलता है।

राष्ट्र में भिन्न-भिन्न भावनाएँ तो रहेंगी ही; वे यदि परिशुद्ध होंगी तो राष्ट्र में शान्ति रहेगी। परिशुद्ध न होंगी तो अशान्ति फैलेगी।

**१०४. स्थिर प्रज्ञा पर ही निर्मित भावना शांतिदायी**

परन्तु अशान्ति किसीके भी लिए अनुकूल नहीं हो सकती। तब फिर शान्ति के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की कृत्रिम और हिंसक योजनाएँ भी की जाती हैं। आज यही हो रहा है। समाज में यदि स्वाभाविक शान्ति रखनी है, तो यही उपाय है कि शुद्ध भावनाएँ स्थिर रखकर उनका विकास किया जाय और अशुद्ध भावनाएँ हटायी जायँ। अब यह बताने की जिम्मेदारी कि सद्भावना कौन-सी और असद्भावना कौन-सी, एक स्थितप्रज्ञ की ही है; चूँकि उसकी बुद्धि स्थिर और तटस्थ हो गयी है, अतः वह सत् और असत् भावनाओं की परख कर सकता है। भावना में कला, संगीत, सौन्दर्य-सम्बन्धी कल्पनाएँ, मनोविनोद के साधन,

धार्मिक उत्सव, पूजा-विधि इत्यादि सभी बातें आ जाती हैं। राष्ट्र के जीवन-विकास के लिए इन सब विभागों का उचित विकास आवश्यक है। इनके संबंध में यदि राष्ट्र में चाहे जैसी धारणाएँ रूढ़ हों तो उस राष्ट्र की अधोगति होगी। उसमें अव्यवस्था फैल जायगी। अर्थात् ये सब चीजें स्थिर बुद्धि के आधार पर खड़ी करनी चाहिए। स्थिर बुद्धि का अर्थ है शास्त्रीय बुद्धि। उसमें आत्मज्ञान, शरीर-विज्ञान, सृष्टि-विज्ञान, सृष्ट-पदार्थ-विज्ञान, गणित, चिन्तन-शास्त्र इत्यादि सब आ गये। ऐसी स्थिर बुद्धि की शास्त्रीय बुनियाद पर सामाजिक भावनाएँ निर्मित हों तो फिर अपने-आप शान्ति व्याप्त होगी। उसकी स्थापना के लिए कृत्रिम उपाय नहीं करने पड़ेंगे। ऐसा समाज अहिंसक रहेगा। सारा राष्ट्रीय विधान ही ऐसा होगा कि शान्ति उसका स्वाभाविक लक्षण होगा।

**१०५. अतः स्थितप्रज्ञ का नेतृत्व स्वीकारना चाहिए**

इसके लिए समाज को इतना बुद्धिशाली होना चाहिए कि वह मार्गदर्शन की जिम्मेदारी स्थितप्रज्ञ व्यक्ति पर ही छोड़ दे। जिस समाज के लोगों में इतनी बुद्धि न आयी हो, या समाज के बड़े लोगों ने उन्हें इतनी समझ प्रदान न की हो, तो फिर वहाँ मार्ग-दर्शन का काम अस्थिर-प्रज्ञ नेताओं के हाथ में रहेगा। स्थितप्रज्ञ के मार्ग-दर्शन में सामाजिक नीति का आधार संयम ही रहेगा। विज्ञान के द्वारा जीवन का यथार्थ सत्य खोजा जायगा और समाज में फैलाया जायगा। कला यानी हृदय-विकास का अंश है। उसकी रचना विज्ञान के आधार पर होगी और ऐसा समाज-विधान बनेगा, जो समाज को समतोल रख सकेगा और जिसके फलस्वरूप समाज में स्थायी शान्ति और समाधान रहेगा। ●

# ग्यारहवाँ व्याख्यान

## १

'भावना' शब्द के अर्थ का और थोड़ा विचार कर लेना उपयोगी होगा। वैद्यक-शास्त्र में 'भावना' का अर्थ है घोटना, घोलना, पुट चढ़ाना। होमियोपैथी में दवाएँ घोटी जाती हैं। मर्दन से उनकी ताकत बढ़ती है, उनका गुण बढ़ता है। इसी तरह बुद्धि को घोटते रहने से उसकी शक्ति बढ़कर वही भावना बन जाती है। स्थित-प्रज्ञ की बुद्धि परिणत होती है। अतः उसके जीवन में केवल भावना ही रहती है। उसका जीवन भावना से लबालब भरा रहता है। बुद्धि और भावना में और एक भेद है। बुद्धि केवल दिशा दिखाती है। भावना दिशा भी दिखाती है और काम भी करती है। बुद्धि जब कार्यक्षम और कार्यकारी हो जाती है तब वही भावना बन जाती है। भावना में रूपान्तर करने के लिए बुद्धि को घोटना आवश्यक है। 'सब भूतों में एक ही आत्मा है' यह स्थित-प्रज्ञ के लिए तर्क-रूप बुद्धि नहीं, बल्कि रग-रग में व्याप्त भावना हो जाती है। अतः उसे सारे समाज के प्रति वात्सल्य होता है। माता के मन में अपने बच्चे के प्रति जैसा वात्सल्य रहता है वैसा ही स्वाभाविक वात्सल्य उसका होता है। तब उसके द्वारा समाज की सेवा सहज स्वभाव से होने लगती है। यहाँ यह शंका अनावश्यक है कि स्थितप्रज्ञ का जीवन बुद्धिमय होता है तो फिर उसमें भावना के लिए स्थान कैसे रहेगा? क्योंकि हम देख चुके हैं कि स्थिर हुई बुद्धि ही भावना है। स्थितप्रज्ञ का जीवन बुद्धिमय होता है, इसीलिए वह भावनामय होता है।

**१०६. 'भावना' शब्द का और थोड़ा विचार**

परन्तु ऐसी शंका इसलिए उत्पन्न हो जाती है कि हम प्रायः 'भावना' शब्द का प्रयोग बुद्धि के विपरीत अर्थ में करते हैं और उसकी तुलना बुद्धि के साथ करते हैं। आजकल हम कहने लगे हैं—अमुक व्यक्ति भावना-प्रधान है और अमुक बुद्धि-प्रधान। अर्थात् हम यह कहना चाहते हैं कि एक में भावना की अधिकता और बुद्धि की कमी है तथा दूसरे में बुद्धि की अधिकता और भावना की कमी है। भावना-प्रधान शब्द का अर्थ यहाँ होता है निरंकुश मन, मन पर बुद्धि का अंकुश न रहना। यहाँ भावना शब्द का प्रयोग मन को लक्ष्य करके हुआ है, परन्तु गीता की शिक्षा में जो 'भावना' शब्द आया है, वह हमारी हृद्गत वस्तु का निर्देश करता है। गीता की भावना मन का विकार नहीं, बल्कि हृदय का गुण है। वस्तुतः गीता हृदय और बुद्धि में भेद नहीं करती, बल्कि यह मानती है कि बुद्धि का जो अन्तरतम भाग—गूदा—है, वही हृदय है। **'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्', 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'** इत्यादि वचनों में हृदय का अर्थ 'बुद्धि का भीतरी भाग' ही है। हम जब किसीको 'भावना-प्रधान' कहते हैं तब वास्तव में हम उसे 'विकार-प्रधान' कहना चाहते हैं। जिस भावना पर बुद्धि की सत्ता नहीं चलती, वही विकार है। गीता को ऐसी भावना अभीष्ट नहीं। इसके विपरीत जब हम किसीको 'बुद्धि-प्रधान' कहते हैं, तब हमारा आशय यह होता है कि इसमें हृदय की आर्द्रता नहीं है, केवल तर्क-शक्ति का ही विकास हुआ है; परन्तु स्थितप्रज्ञ की स्थिति बिलकुल ही दूसरी है। वह अपनी बुद्धि हृदय को सौंप चुका होता है। जो अपनी बुद्धि को घोट-घोटकर भावना में रूपान्तरित कर देता है, उसकी बुद्धि हृदय में विलीन हो जाती है; उसकी बुद्धि और भावना एकरस हो जाती है।

**१०७. बुद्धि-प्रधानता बनाम भावना-प्रधानता—यह भेद स्थितप्रज्ञ में नहीं रहता**

हमने अब तक बुद्धि का रूपान्तर भावना में करने के साधारण

प्रयोगों पर विचार किया। अब कुछ विशेष शास्त्रीय प्रयोगों पर विचार कर लेना चाहिए। इनमें से पहला जप है। 'जप' का अर्थ

**१०८. बुद्धि को भावना में परिणत करने के उपाय : जप, ध्यान तथा आचरण**

केवल 'वाणी से उच्चार' नहीं, बल्कि मन में भी वही विचार घुटते रहना चाहिए। इस क्रिया में वाणी सहायक होती है। वह क्रिया मनन-जैसी ही होती है तो भी वह केवल मनन नहीं है। 'मनन' निर्णय के लिए होता है। जप में तो पूर्व निर्णय को दृढ़ किया जाता है। यह वाणी के द्वारा होता है। जप और मनन में यह फर्क है। यदि इस फर्क को छोड़ दें तो फिर दोनों क्रियाओं में कोई अन्तर नहीं रह जाता। दूसरा प्रयोग ध्यान है। ध्यान का अर्थ है उस विचार से तन्मयता, उसके अनुकूल उपासना। इसीमें से तीसरा प्रयोग—आचरण—शुरू होता है। 'विचार के अनुकूल सारे जीवन की रचना' उसका स्वरूप है। इस तरह १. जप, २. ध्यान और ३. आचरण—इन तीन प्रयोगों से बुद्धि का रूपान्तर भावना में होता है।

इस विषय का विचार और भी एक दृष्टि से किया जा सकता है। स्थित-प्रज्ञ के लक्षणों में दर्शित 'बुद्धि' आत्मनिष्ठ बुद्धि है। जब

**१०९. भावना का अर्थ 'भक्ति' भी हो सकता है। भक्ति के बिना शांति नहीं, शांति के बिना सुख नहीं**

आत्मज्ञान घुट-घुटकर आत्मसात् हो जाता है तब उसका रूपान्तर भक्ति में होता है। अतः यहाँ भावना शब्द का अर्थ भक्ति भी लिया जा सकता है। बोध को प्रेम का रूप प्राप्त होना, अर्थात् ज्ञान को भक्ति का रूप मिलना है। जब बोध स्थिर हो जाता है, तो वह इतना प्रिय लगने लगता है कि मन नित्य-निरन्तर उसीमें रमने लगता है। इससे बोध का रूपान्तर प्रेम में होता है। अतएव भावना का अर्थ भक्ति किया जा सकता है। तभी यह वा[illegible] समझ में आती है कि प्रेम के बिना अथवा भक्ति के बिना शान्ति न[illegible] होती। बोध जब अत्यन्त प्रिय हो जाता है तब मन उसमें रम[illegible]

लगता है, उससे घिर जाता है, मन्त्रमुग्ध-जैसा हो जाता है। ऐसा हो जाने पर फिर अशांति हमें नहीं छू सकती। पेड़ की जड़ को रोज पानी मिलता रहे तो वह सदा लहलहाता रहता है। इसी तरह यदि अन्तर्तम में बोध का झरना सतत बहता रहे, उसे प्रेम का रूप प्राप्त हो और सतत प्रेम-रस मिलता रहे तो जीवन सदा लहलहाता रहता है। विपत्तियाँ आ जाने पर भी वे सम्पत्ति का रूप ले लेती हैं। 'उनसे शान्ति बढ़ती है। इस तरह बोध एवं भक्ति का अभेद्य सम्बन्ध है। बोध के बिना भक्ति नहीं, भक्ति के बिना शांति नहीं, शांति के बिना सुख नहीं।

## २

**११०. परन्तु सुख का अर्थ मन का सुख नहीं। मन का सुख भिन्न है, मनुष्य का सुख भिन्न है।**

परन्तु यहाँ सुख का अर्थ मन का सुख नहीं है। मन का सुख-दुःख और होता है, मनुष्य का और। मन को सुख-दुःख होने से यह अनिवार्य नहीं है कि मनुष्य को भी सुख-दुःख हो ही। आज इतने लोग देश के लिए मानसिक दुःख सहते हैं। उससे मन को कष्ट होता है, तो भी उन्हें सुख ही मालूम देता है, क्योंकि उसमें कल्याण की कल्पना रहती है। जीभ को जो मीठा या कड़वा लगता है वह मनुष्य को भी वैसा ही लगता हो सो बात नहीं। दवा जीभ को कड़वी लगती है, परन्तु मनुष्य को मीठी ही लगती है। अतः मनुष्य को जब मानसिक दुःख कल्याणकर मालूम होता है तो वह उसे सहर्ष स्वीकार करता है। अतः मानसिक सुख-दुःख की व्याख्या से, जीवन-दृष्टि से की गयी सुख-दुःख की व्याख्या भिन्न है। शरीर को सुख आरोग्य से मिलता है; किन्तु शरीर में बल का मचलना—फूट निकलना, दीवार से टक्कर मारने की उमंग पैदा होना आरोग्य का लक्षण नहीं है। उसका बल स्वयं उसीसे नहीं सँभल पाता। बल ही एक बीमारी हो बैठता है। आरोग्य का अर्थ है

शरीर का समतोल रहना। आरोग्य एक बात है, बल का उद्रेक दूसरी। आरोग्य में स्वस्थता रहती है। बेकाबू बल में क्षोभ होता है। उसी तरह जिस सुख से मन को हर्ष होता है वास्तव में वह सुख ही नहीं है। जीवन के वास्तविक सुख भिन्न होते हैं। उनका निवास शान्ति में होता है, चित्त की खलबली में नहीं। उनका आरम्भ निर्विकारता से होता है। निर्विकारता से बोध, बोध से भक्ति अथवा निष्ठा, फिर शान्ति, और फिर सतत, अविकारी सुख—ऐसी परम्परा है।

**१११. 'होना' पन का सुख ही सच्चा सुख : वही सतत रुचियुक्त सुख**

दूसरे सुखों से शान्ति भंग होती है, अतः उनसे जी ऊबता है। हमेशा वही-की-वही चीज अच्छी नहीं लगती। उसमें परिवर्तन की इच्छा होती है। परन्तु आत्मा का सुख ऐसा है कि उससे जी नहीं ऊबता। इच्छा होती है कि वही निरन्तर बना रहे। वह सुख सतत रुचियुक्त होता है। संगीत चाहे कितना ही मधुर हो, पर चौबीसों घंटे कान पर वही-वही राग, स्वर तथा धुन आते रहने से जी ऊब जाता है। यही बात रंगों की है। तरह-तरह के रंगों को देखकर थोड़ी देर के लिए आँखों को भला मालूम होता है, परन्तु यदि इन रंगों का आक्रमण आँखों पर सतत होने लगे तो वे परेशान हुए बिना न रहेंगी। आराम के लिए वे आकाश के रंगहीन नीले रंग का सहारा खोजने लगेंगी। आकाश के नील वर्ण से आँखें थकती-ऊबती नहीं : इसीलिए उपासकों ने ईश्वर का रूप 'गगन-सदृश' माना है। दूसरे चटकीले रंगों में और आकाश के सौम्य रंग में जैसा अन्तर है, वैसा ही दूसरे सुख और आत्म-सुख में है। आत्म-सुख अपने होनेपन के अखंड सुख को कहते हैं। कोई क्षणभर के लिए भी नहीं चाहता कि मैं न होऊँ। शरीर छूट जाय, यह तो भले ही कोई चाहे। अमुक स्थान में न रहूँ, यह भी किसीकी इच्छा हो सकती है; परन्तु यह कोई नहीं चाहता कि मैं बिलकुल न होऊँ। अपने अस्तित्व से हमारा जी कभी

ऊब ही नहीं सकता। केवल अस्तित्व का सुख सतत और अरुचि से परे होता है। शेष सब सुख अस्तित्व के विकार हैं। अस्तित्व का भान भी विकार ही है।

इसलिए योग-शास्त्र में कुंभक के संकेत से आत्मा के केवल अस्तित्व का दर्शन कराया जाता है।

११२. कुम्भक का उदाहरण

साँस अन्दर लेने की क्रिया पूरी हो चुकी है, बाहर छोड़ने की क्रिया अभी शुरू नहीं हुई है। इस बीच का जो अति-सूक्ष्म उभयवृत्ति-वर्जित, निष्क्रिय, तटस्थ क्षण होता है, उसका चिन्तन करने से 'केवल अस्तित्व' का दर्शन हो जाता है। इसलिए कुछ गुमराह साधक इस क्षण को अधिक-से-अधिक लम्बाने का स्थूल प्रयत्न—जिसे दीर्घ कुम्भक कहते हैं—साधने का प्रयास करते हैं। वस्तुतः कुम्भक को लम्बाने की नहीं, बल्कि आवश्यकता कुम्भक-दृष्टान्त द्वारा सूचित आत्मस्थिति को पहचानने की और उसी अनुभव में सतत स्थिर रहने की है। कुम्भक तो मात्र उदाहरण है। ऐसे और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं। ज्ञानदेव ने 'अमृतानुभव'[1] में ऐसे अनेक दृष्टांत एक जगह एकत्र किये हैं। 'रात समाप्त हुई, दिन का आरम्भ अभी नहीं हुआ है।' 'वर्षाकालीन नदी का चढ़ाव समाप्त हो गया है, परन्तु अभी ग्रीष्मकालीन उतार शुरू नहीं हुआ है।' जैसे ये दृष्टांत हैं, वैसे ही कुम्भक भी एक दृष्टांत है। अब कुम्भक-प्रक्रिया को शारीरिक कारणों से लम्बाना हो, तो बात दूसरी है। आध्यात्मिक दृष्टि से तो सिर्फ मध्यस्थ दशा की ओर ध्यान खींचना है। केवल निरुपाधिक मध्यस्थ दशा लक्ष्य है। हमें अपने सारे जीवन की समस्त उपाधियों से मुक्त होना आना चाहिए। 'मैं यह हूँ', 'मैं वह हूँ'—ऐसे सारे विशेषणों को निकालने में समर्थ हो जाना चाहिए। तमाम गुण-दोषों का निरास करते-करते मनुष्य का जो मूल उपशान्त स्वरूप शेष रह

---

१. 'अमृतानुभव' ज्ञानदेव का एक ग्रन्थ है।

जाता है, उसीमें सुख है। यह दिखाने के लिए कि शान्तिमय सुख दूसरे साधारण सुखों से भिन्न है, इसलिए उसे नित्यसुख, आत्म-सुख, चित्-सुख आदि कहते हैं। वही वास्तविक सुख है, इसलिए उसे 'सत्यसुख' भी कह सकते हैं। 'सच्चिदानन्द' शब्द में यही भाव सूचित है। आत्मा में बुद्धि के स्थिर हो जाने पर वह सुख प्राप्त होता है। इसलिए जिसकी प्रज्ञा स्थिर हो गयी है, उसका जीवन सुखी है।

**११३. आत्म-सुखानुभूति का व्यवहार से विरोध नहीं है। आत्मबोध का बाह्य उद्योगों में खर्च न होने देना पर्याप्त है।**

यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि हम आत्मा से बाहर के विषयों में बुद्धि को लगायें ही नहीं, तो लोक-व्यवहार कैसे चलेगा? चमड़े का व्यवसाय तो करें, पर उसमें बुद्धि न लगायें तो फिर वह उद्योग चलेगा कैसे? उसे करें भी क्यों? यदि बुद्धि को आत्मा में स्थिर रखना है तो फिर ये बाहर के काम-काज—उद्योग—होंगे कैसे? इसका समाधान यह है कि सामान्य लोक-व्यवहार में जिस बुद्धि का उपयोग होता है, वह बुद्धि की एक शक्ति है। उसे तर्क कह सकते हैं। बाहरी बातों में उससे काम लिया जाय तो हर्ज नहीं, परन्तु 'अहं बुद्धि' नामक जो बुद्धि का गूदा—सारभाग—है, उसे आत्मा में स्थिर रखकर हमें तटस्थ रहना चाहिए। आत्म-बोध को बाहरी उद्योग में खर्च न करना चाहिए। साधारण बुद्धि को लोक-व्यवहार में लगाकर दूसरी तरफ आत्मबोध में लीन रहना है तो मुश्किल; परन्तु इस कारण उसे छोड़ नहीं देना चाहिए। निरन्तर प्रयत्न करने से वह सध जायगा, क्योंकि वह कृत्रिम नहीं है, अतः यह निश्चित है कि उसमें सफलता मिलेगी।

इसकी मैंने एक युक्ति खोज निकाली है। किसी भी बाह्य वस्तु का परिणाम उसी क्षण न होने देना चाहिए। दूसरे क्षण हो तो

परवाह नहीं, परन्तु पहले क्षण तो न होने देना चाहिए। किसीने विनोद किया, पहले क्षण आप मत हँसिये। किसीने एक तमाचा जड़ दिया, पहले क्षण आँखों में आँसू मत आने दीजिये। पहले क्षण तो यह प्रतीत होने दीजिये, मानो यह भगवान् का स्पर्श है। दूसरे क्षण चाहे तो भले ही आँसू आ जायँ। माँ के मर जाने की खबर आ जाय तो पहले क्षण हृदय को धक्का मत लगने दो। अपनी शान्ति को विचलित न होने दो। यदि मन पर इतना काबू पा लिया तो फिर आगे की बातें अपने-आप सध जायँगी।

**११४. आत्म-बोध को खंडित न होने देने की युक्ति : पहले क्षण आघात का असर न होने दें।**

# बारहवाँ व्याख्यान

## १

आगे के श्लोक में संयम की आवश्यकता फिर एक दूसरी तरह से बतलायी है—

> इन्द्रियाणां हि चरतां यन् मनोऽनुविधीयते ।
> तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ।।

जब इन्द्रियाँ स्वच्छन्द बरतने लगती हैं और मन उनके पीछे जाता रहता है तो फिर बुद्धि साबित और तटस्थ नहीं रह सकती। जब मन इन्द्रियों की तरफ चला जाता है तो इन्द्रियाँ और मन मिलकर उनका पक्ष प्रबल हो जाता है। फिर बुद्धि अपना काम नहीं कर पाती। इसका अर्थ यह नहीं कि बुद्धि नष्ट हो जाती है। बुद्धि का अबुद्धि हो जाना शक्य नहीं है, इसलिए वह कुबुद्धि बन जाती है और उस दशा में वह अबुद्धि से भी ज्यादा अनर्थकारिणी हो जाती है; परन्तु मन यदि बुद्धि की तरफ आ जाय तो फिर बुद्धि का पक्ष जोरदार हो जायगा और इन्द्रियों को इनके पीछे चलना पड़ेगा। जब बुद्धि के अनुकूल मन और मन के अनुकूल इन्द्रियाँ हो जाती हैं, तब जीवन का सारा व्यवहार आत्मा के अनुकूल हो जाता है। इसके विपरीत यदि इन्द्रियों के पीछे मन और मन के पीछे बुद्धि चलने लगी तब वह चाहे जैसे प्रयोग करने लगती है और मन के पक्ष का समर्थन करने के लिए तरह-तरह के कुतर्क रचने लगती है। ऐसा होने पर जीवन का सारा व्यापार आत्मा के प्रतिकूल होने लगता है।

११५. इन्द्रियों के पीछे जानेवाला मन बुद्धि को भी खींच ले जाता है। इसलिए संयम की आवश्यकता

पहले बुद्धि-नाश की परम्परा बताते हुए एक श्लोक में यह कहकर कि विषय-चिन्तन द्वारा पहले मन पर आक्रमण होता है, अगले श्लोक में यह अलग से दिखाया है कि फिर मोह आदि उत्पन्न होकर उनकी आँच बुद्धि को कैसे लगती है। उसीका स्पष्टीकरण यहाँ किया जा रहा है। जब सवार के हाथ में लगाम और लगाम के वस में घोड़ा हो तब सवार बेखटके मुकाम पर पहुँच सकता है। इसके विपरीत घोड़े के वस में लगाम और लगाम के वस में सवार हो जाय तो फिर मुकाम पर पहुँचने की कोई आशा नहीं, ऐसा कठोपनिषद् में विवेचन है। वही बात यहाँ नाव की उपमा देकर समझायी गयी है। बुद्धि नाव की तरह तारक है; परन्तु वह यदि हवा के वश हो जाय तो फिर पार नहीं लगा सकती। बुद्धि यदि मन की पकड़ में आ जाय तो फिर उसकी तारक-शक्ति नष्ट हो जाती है और वह डुबोने का कारण बन जाती है।

११६. बुद्धि नौका की तरह तारक, परन्तु मन की पकड़ में आ जाय तो वही मारक हो जाती है।

यदि ऐसी कोई युक्ति होती कि जिससे मन इन्द्रियों के पीछे चला जाय तो भी वह बुद्धि को न छू सके, तब तो हम कह सकते थे कि वह खुशी से जाय, हमारा क्या बिगड़ेगा! बुद्धि और आत्मा का पक्ष मजबूत हो जाने पर हम यह मान सकते थे कि मन यदि इन्द्रियों के चक्कर में आकर विषयों की ओर झुके भी, तो हमें परवाह नहीं है। हम लोगों को ऐसा कहते हुए सुनते भी हैं कि "भले ही हम विषय-विलास में लगे हों तो भी हमारी बुद्धि उसमें फँसती नहीं है। विचार करते समय हम उस विषय को भूलकर तटस्थता से विचार करते हैं।" परन्तु यह भ्रम है। ऐसा हो नहीं सकता। हो तो यह सकता है कि इन्द्रियाँ, मन

११७. बुद्धि और मन सदा के लिए जुदा नहीं हो सकते। या तो बुद्धि मन के वश में हो जायगी, या मन बुद्धि के वश में रहेगा। दूसरी बात श्रेयस्कर।

और बुद्धि तीनों को एक पक्ष में रखकर हम उससे भिन्न या पृथक् रहें; क्योंकि आत्मा बिलकुल पृथक् है। आत्मा और बुद्धि के बीच में खाली जगह है। उनके बीच में आप दीवार खड़ी कर सकते हैं। परन्तु यह स्थितप्रज्ञता-प्राप्ति के बाद ही संभव है। यही वेदांत है। यह है तो कठिन, परन्तु शक्य है। मन और बुद्धि के बीच खाली जगह नहीं है। वे परस्पर सम्बद्ध हैं। इसलिए जिस तरह आत्मा एक ओर और बुद्धि, मन तथा इन्द्रियाँ दूसरी ओर, ऐसे दो विभाग खुशी से किये जा सकते हैं, वैसे आत्मा और बुद्धि एक ओर और मन और इन्द्रियाँ दूसरी ओर, ऐसे विभाग करने की गुंजाइश नहीं है। तब फिर या तो इंद्रियों के अधीन मन और मन के अधीन बुद्धि हो सकेगी, अथवा बुद्धि के अधीन मन और मन के अधीन इंद्रियाँ हो सकेंगी। इनमें दूसरा मार्ग इष्ट और श्रेयस्कर है, ऐसा संकेत यहाँ किया गया है।

२

परन्तु इस श्लोक में यदि इतना ही बताया गया होता तो कोई विशेष बात नहीं थी। अतः इसमें कोई विशेष अर्थ गर्भित होना चाहिए। जरा बारीकी से हम उसकी खोज करें। ज्ञानदेव ने यह अर्थ स्पष्ट किया है। उनके मतानुसार इस श्लोक में खतरे की घंटी बजायी गयी है। इसमें यह सूचित किया गया है कि मनुष्य भले ही लगभग स्थितप्रज्ञ हो गया हो तो भी उसे असावधान न रहना चाहिए। ज्ञानदेव कहते हैं—

**११८. ज्ञानदेव का विशिष्ट निर्देश : ज्ञानी के लिए भी असावधान होकर इन्द्रियों को खुला छोड़ देने की गुंजाइश नहीं।**

प्राप्तें हि पुरुषें। इन्द्रियें लाळिलीं जरी कवतिकें।
तरी आक्रमिला जाण दुःखें। सांसारिकें ॥[1]

---

१. "प्राप्त पुरुष भी
यदि कुतूहल से इन्द्रियों को दुलरावे,
तो उस पर प्रापंचिक दुःखों के द्वारा
आक्रमण हुआ ही समझो।"

'प्राप्त' अर्थात् पहुँचा हुआ पुरुष यानी जो मंजिल पर पहुँच गया है। तो ऐसा स्थिरबुद्धि पुरुष इंद्रियों का दुलार क्यों करने लगा? इसलिए 'कुतूहल से' कहा है। वह यदि सहज भाव से, कुतूहल से, असावधानी अथवा गफलत में आकर इन्द्रियों को खुला छोड़ने लगे तो फिर उसका भी मन उससे भी बलवान् होकर उसे खींच ले जायगा। यह अर्थ ज्ञानदेव को कैसे सूझा होगा, इस पर विचार करने पर उनकी बुद्धि की सूक्ष्मता का परिचय मिलता है। इस श्लोक में ऐसी भाषा नहीं है कि जिस तरह हवा नाव को खींच ले जाती है उस तरह मन 'बुद्धि को' खींच ले जाता है। बुद्धि की जगह यहाँ जो 'प्रज्ञा' शब्द का प्रयोग किया गया है, सो क्या फिजूल है? इस 'प्रज्ञा' शब्द से ज्ञानदेव ने यह आशय लिया कि मनुष्य को किसी भी दशा में अपने मन को खुला न छोड़ना चाहिए। समर्थ रामदास ने भी अपने 'मनाचे श्लोक' में अन्तिम उपदेश इसी तरह का दिया है, **'मना गूज रे तुज हें प्राप्त जालें'** अर्थात् अरे मन, तुझे जो-कुछ मिलना था सो सब मिल गया है। तू अपने मुकाम पर पहुँच गया है। फिर भी गाफिल रहना ठीक नहीं। **''तरी अन्तरी पाहिजे यत्न केले।''** 'रहस्य पा लेने पर भी तू अपना हाथ कसा हुआ रख। ढीला मत छोड़।' अर्थात् उनका आशय यह है कि बुद्धि के स्थिर होकर प्रज्ञा-रूप हो जाने के बाद भी हम असावधान न रहें, लगाम ढीली न करें।

**११९. वस्तुतः ज्ञानी नियम से नहीं, स्वभाव से संयमी रहता है**

परन्तु ज्ञानदेव ने दूसरी जगह कुछ भिन्न उद्गार व्यक्त किये हैं—''गंगा जब समुद्र के पास जा पहुँचती है तो उसकी गति मन्द हो जाती है''; ''शत्रु को जीत लेने पर तलवार का हाथ ढीला हो जाता है।'' इन उद्गारों से यह ध्वनित होता है कि ज्ञानी को साधना की जरूरत नहीं रहती। और यहाँ तो उसे सावधान किया जा रहा है। इनका मेल कैसे हो? इसका मेल यह है कि ज्ञानी के लिए सावधानता ही सहज हो जाती

है। ब्रह्मसूत्र-भाष्य में शंकराचार्य ने यही अर्थ कुछ भिन्न भाषा में दिया है। "आत्मज्ञानी स्वच्छन्द आचरण कैसे करेगा? स्वच्छन्द आचरण के लिए भी तो कुछ अहंकार आवश्यक होगा न!" उनकी यह उक्ति बड़ी मार्मिक है। वह तो संयम के ही आधार पर स्थित-प्रज्ञ हुआ है। वह असंयत व्यवहार करेगा कैसे? संयत व्यवहार ही तो उसका स्वभाव है। स्थित-प्रज्ञ के लिए अब नियम नियम नहीं रहता, संयम संयम नहीं रहता। उसके पास ऐसा भेद-भाव बाकी नहीं रहता कि नियम मुझसे कुछ भिन्न हैं और उनका पालन करना है। सूर्य नियम के कारण प्रकाशित नहीं होता, स्वभाव से होता है। गंगा नियम के कारण नहीं बहती, स्वभाव से बहती है। यही स्थिति स्थितप्रज्ञ की होती है।

**१२०. ज्ञानी तो क्या, साधक को भी संयम भार-रूप नहीं होता**

पर क्या इन्द्रिय-संयम उसके लिए एक भार है? बल्कि इन्द्रियों का असंयम ही भार है। कोई व्यक्ति गणित पढ़कर पारंगत हो गया, बड़ा गणितज्ञ बन गया, तो क्या वह यह चाहेगा कि अब मेरे लिए गणित के नियम न रहें? क्या वह यह कहेगा कि अब मेरे लिए दो और दो चार नहीं, बल्कि तीन हुआ करें? यदि हाँ, तो फिर उसका गणित ही खत्म हुआ और कहना होगा कि उसका दिमाग ठिकाने नहीं है। जब तक हम यह समझते रहेंगे कि संयम भार है, भार है, तब तक वह अप्रिय ही लगेगा। साधक भी तो ऐसा नहीं समझता। हाँ, यह ठीक है कि साधक को शुरू-शुरू में संयम थोड़ा तापदायक मालूम होगा। और वह तापदायक होता है, इसीसे तो उसे 'तप' कहा है। यदि संयम में बिलकुल ही ताप न हो तो फिर वह 'तप' किस बात का? परन्तु शुरू में यद्यपि संयम थोड़ा तापदायी हो तो भी साधक को वह भार नहीं लगता, उसमें उत्साह ही लगेगा। मुसाफिर को लड्डू की झोली क्या भारी लगेगी? अतः जब साधक को ही संयम भार नहीं लगता तो फिर स्थित-प्रज्ञ के लिए तो उसका सवाल ही नहीं रहता।

अभ्यास हो जाने से संयम स्थिर-बुद्धि का एक अंग ही हो जाता है। स्थिर बुद्धि संयम पर ही खड़ी रहती है। तब स्थिर बुद्धि हो जाने पर मनुष्य का संयम के विषय में ही ढिलाई करना संभव नहीं। मनुष्य और सब डालियों को काट डालेगा, परन्तु जिस डाल पर वह बैठा है, उसे कैसे काटेगा? स्थिर बुद्धि चूँकि संयम पर खड़ी है, तो संयम पर ही कुल्हाड़ी नहीं चलायेगी। अतः यदि स्थिर बुद्धि संयम पर ही प्रहार करने लगी, तो समझो कि वह आत्महत्या ही कर रही है। ज्ञानदेव का आशय यही है। उसका अर्थ यह नहीं है कि स्थित-प्रज्ञ को नित्य प्रयत्नशील रहना पड़ता है। परन्तु मान लें कि संयम के विषय में उसने ढिलाई की है तो फिर इससे स्थित-प्रज्ञता की बुनियाद ही ढह जायगी, और इसलिए उससे ऐसा हो नहीं सकता, यह इस श्लोक का गहरा अर्थ है।

**१२१. स्थितप्रज्ञ के लिए असंयम अशक्य : क्योंकि स्थिर बुद्धि का तो आधार ही संयम है**

एक ओर से यह कहा जाता है कि स्थित-प्रज्ञ को साधना की अथवा सावधानता की जरूरत नहीं है, तो दूसरी ओर से यह कहते हैं कि उसके लिए भी इसकी जरूरत है। हमने इन दो परस्पर-विरुद्ध भासित होनेवाले कथनों में इस तरह मेल बैठाया कि स्थित-प्रज्ञ के लिए सावधानता सहज होती है। दूसरी तरह से भी यह मेल बैठाया जा सकता है। ऐसी सहजावस्था, जिसके लिए सावधानता की अपेक्षा न हो, एक तरह से मनुष्य की मात्र आकांक्षा है। लाखों लोगों के लिए तो वह कम-से-कम ऐसी ही है। इस देह में स्थित-प्रज्ञ की पूर्ण व्याख्या तक पहुँच जाना अशक्य न हो तो भी बहुतों की दृष्टि से वह अशक्य-सा है। साधक की भूमिका जैसे-जैसे प्रगत होती जायगी, वैसे-वैसे स्थित-प्रज्ञ की व्याख्या का अर्थ भी सूक्ष्म होता

**१२२. सावधानता की अपेक्षा न रखनेवाली सहजावस्था एक प्रकार से मानवीय आकांक्षा मात्र है। अतः सावधानी का संकेत हर हालत में उचित ही है**

जायगा। और इसलिए मनुष्य सहसा ऐसी स्थिति को नहीं पहुँच सकेगा, जिसमें वह यह मान सके कि मैं स्थित-प्रज्ञ हो गया। एक दृष्टि से यह इष्ट भी है। जब तक देह है तब तक विकास की गुञ्जाइश का होना वांछनीय है; बल्कि देह का अस्तित्व ही इस बात का एक संकेत समझना चाहिए कि ऐसी गुञ्जाइश है। टॉल्स्टॉय के कथनानुसार साधक और उसके ध्येय में इस तरह निरन्तर पकड़ा-पकड़ी का खेल चालू रहने में ही मजा है। साधक को जहाँ यह लगने लगा कि ध्येय को मैंने 'यह पकड़ा' कि तुरन्त उसने कहा—'मैं यह खिसका'; और आगे दौड़ गया। इसीमें साधना की प्रतिष्ठा है। अतः साधक के लिए खतरे की घंटी बजा देना हर हालत में उचित ही है। किन्तु इससे यह अनुमान न निकाल लेना चाहिए कि फिर 'ध्येय-प्राप्ति कभी हो ही नहीं सकती।' ईश्वर-कृपा से ध्येय-प्राप्ति अवश्य होगी। परन्तु जिस क्षण मनुष्य के मन में यह कल्पना आ गयी कि अब मैं पहुँच गया, अब मुझे अपने मन को खुला छोड़ देने में हर्ज नहीं है, तो उसी क्षण वह प्राप्त चली गयी, खो गयी—ऐसा समझना चाहिए। कई बार ऐसा हो जाता है कि तैरने-वाला किनारे पर पहुँचता है, किनारे पर हाथ टेक भी देता है, परन्तु फिर हाथ छूटकर वह पानी में बह जाता है। अतः हाथ का किनारे को छू जाना काफी नहीं है। जब पाँव किनारे पर चढ़ जायँ तभी पहुँचा समझना चाहिए। अतः यह कहना कि ठेठ अन्त तक संयम में ढिलाई नहीं चल सकती, साधक के हित में है।

इस तरह संयम की आवश्यकता शुरू से आखिर तक साबित हुई, अर्थात् पूर्णतया साबित हुई। इतना सिद्ध हो जाने पर अब 'तस्मात्' शब्द जोड़ने में आपत्ति नहीं—

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस् तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

इसमें 'तस्मात्'—'इसलिए' शब्द जोड़कर शुरू की प्रतिज्ञा को

केवल दुहराया है। तर्कशास्त्र में इसे 'निगमन' कहते हैं। शुरू में मूल सिद्धान्त बताना, फिर युक्तियों से उसे सिद्ध करना और अन्त में फिर उस प्रतिज्ञा को दोहराना, यह तर्क-शास्त्र की रीति है। इस विधि से शास्त्र का समाधान हो जाता है। यह रेखागणित के क्यू० ई० डी० अर्थात् 'इति सिद्धम्' की तरह है। गीता की पद्धति अक्षरशः तर्कशास्त्र की नहीं है। शास्त्र के चौखटे में फँसाकर साधारण मनुष्य की बुद्धि को व्यर्थ ही परेशान करने में उसे रुचि नहीं है। अतः उसने अपने विवेचन में ऐसी सरल संवाद-पद्धति का आश्रय लिया है, जिसे साधारण मनुष्य भी समझ सके। फिर भी वह शास्त्र की उपेक्षा नहीं करती है, और यह विवेचन तो खास करके संयम की तात्त्विक उपपत्ति बतलाता है, इसलिए शास्त्रीय शैली आवश्यक भी हो गयी है। अतः शास्त्र के संतोष के लिए यह एक श्लोक और खर्च किया है। 'यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः' इस श्लोक में जो कहा है, बिलकुल वही यहाँ दोहराया है। सिर्फ कछुए की उपमा को छोड़कर उस श्लोक का ज्यों-का-त्यों पुनरुच्चार किया गया है। यही निगमन का स्वरूप होता है।

१२३. इस तरह संयम की आवश्यकता आदि से अन्त तक सिद्ध हुई, अतः निगमन

# तेरहवाँ व्याख्यान

## १

स्थितप्रज्ञ के लक्षणों के दो विभाग समाप्त हुए। अब तीसरा और अन्तिम विभाग शुरू होता है। पहले चार श्लोकों के विभाग में स्थितप्रज्ञ की व्याख्या और उस व्याख्या का विवरण बताया गया है। मध्यम विभाग में उसी सिलसिले में तीन श्लोकों में संयम का विज्ञान और सात श्लोकों में संयम का तत्त्वज्ञान स्पष्ट किया है। अब अंतिम विभाग में स्थित-प्रज्ञ की स्थिति का खुलासा करके उसकी फल-श्रुति कहनी है। तीन श्लोकों की एक त्रिसूत्री में स्थिति का खुलासा होगा और अन्तिम श्लोक में फल-श्रुति कही जायगी।

**१२४. अन्तिम विभाग : स्थितप्रज्ञ की स्थिति का खुलासा**

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

यह खुलासे का पहला श्लोक है। इसका अक्षरार्थ इस प्रकार है—"जहाँ प्राणि-मात्र सोते रहते हैं वहाँ स्थितप्रज्ञ जागता रहता है। और जहाँ प्राणि-मात्र जागते रहते हैं, वहाँ स्थितप्रज्ञ मजे में सोता रहता है।" परन्तु यहाँ अक्षरार्थ नहीं लेना है, लाक्षणिक अर्थ लेना है, यह कहने की जरूरत नहीं।

**२५. खुलासे का पहला सांकेतिक श्लोक। इनकी रात सो उसका दिन, और उसकी रात सो इनका दिन**

यदि शाब्दिक अर्थ लेंगे तो यह श्लोक स्टेशनमास्टर, चोर, रातपाली-वाले मजूर आदि पर लागू होगा। गांधीजी ने इस श्लोक का थोड़ा-सा अक्षरार्थ भी दुहने का प्रयत्न किया है। "साधारण लोग रात का

समय विलास आदि में विताते हैं और सुवह सोते रहते हैं, परन्तु संयमी रात में सो जाता है और वड़े सवेरे ही उठकर मनन-चिन्तन में लग जाता है।" इस तरह उन्होंने इसका उपयोगी अक्षरार्थ दुह लिया है, परन्तु उन्होंने भी इस शाब्दिक अर्थ को मुख्य नहीं माना है। वे जानते हैं कि इसका सूक्ष्म और लाक्षणिक अर्थ ही ग्रहण करना है और उन्होंने आगे चलकर अपनी पद्धति के अनुसार वैसा अर्थ किया भी है।

इस श्लोक के रूपक द्वारा स्थित-प्रज्ञ की जीवन-दृष्टि वतायी गयी है। स्थित-प्रज्ञ की जीवन-दृष्टि और अज्ञानियों की जीवन-दृष्टि में वड़ा अन्तर है। जैसे दो समानान्तर रेखाओं का कहीं स्पर्श-विन्दु ही नहीं होता, वैसी ही स्थिति इन दोनों की जीवन-दृष्टियों की है। स्थितप्रज्ञ की दृष्टि ही वदल जाती है। मीरावाई ने कहा है—'उलट भई मोरे नयनन की'—ऐसी उसकी हालत हो जाती है। वस्तुतः उसकी दृष्टि उलटी नहीं होती, वल्कि वही सीधी होती है। संसार की ही दृष्टि उलटी है; परन्तु वह वहुसंख्यक लोगों की होने के कारण सीधी समझी गयी है। वहु संख्या को क्यों दोप दें? इसलिए मीरावाई ने अपनी ही दृष्टि को उलटा कह दिया। सो, जव मूल जीवन-दृष्टि में ही फर्क हो गया तो फिर जीवन की तमाम क्रियाओं में वह चरितार्थ होता जायगा।

**१२६. अर्थात् स्थितप्रज्ञ की कुल जीवन-दृष्टि ही दूसरों से विपरीत होती है**

खाना शरीर-धारण के लिए आवश्यक है। साधारण मनुष्य खाना खायेगा और स्थितप्रज्ञ भूखा रहेगा, सो वात नहीं। स्थित-प्रज्ञ भी भोजन करेगा। दोनों की वाहरी क्रियाएँ एक-सी होंगी। परन्तु वृत्ति, विचार और भावना एक-सी न होंगी। स्थित-प्रज्ञ का भोजन एक यज्ञ है। वह केवल शरीर-धारण के लिए तटस्थ भाव से किया जायगा। उसका स्वरूप उपनिषद् की और शंकराचार्य की

**१२७. भोजन का उदाहरण**

भाषा में 'औषध-रूप' होगा, या गांधीजी की भाषा में 'जिस घर में हम रहते हैं उसका भाड़ा देने जैसा होगा', या एक वैज्ञानिक की भाषा में 'जब यन्त्र से काम लेते हैं तो उसे तेल देना ही चाहिए' ऐसा होगा। शरीर को स्वस्थ और कार्यक्षम रखने के लिए वह उसे आहार देगा। उसमें उसकी भोग-वृत्ति न रहेगी। अन्य लोगों के भोजन में भोग, आनन्द, मौज-मजा का भाव होता है। उसके लिए कितनी बुद्धि, समय और श्रम खर्च किया जाता है! कैसा भारी आयोजन और संगठन किया जाता है! आधा मानव-समाज—सभी स्त्रियाँ लगभग उसी काम में लगा दी गयी हैं। भोजन का इतना बड़ा आडम्बर रच दिया गया है। स्थित-प्रज्ञ का भोजन शास्त्रीय दृष्टि से होगा और उसके मूल में गम्भीर हेतु होगा, जब कि औरों का भोगमय और बालिश होगा।

यही स्थिति नींद की है। प्राणि-मात्र के शरीर-धारण के लिए भोजन की तरह नींद भी आवश्यक क्रिया है। परन्तु दूसरे प्राणी जब सोते हैं तो आलस्य में पड़ जाते हैं, सपने देखते हैं और ज्ञान को भूलते जाते हैं। उनकी एक-एक रात ज्ञान-क्षय का निमित्त बनती है। परन्तु स्थितप्रज्ञ की नींद निर्दोष और निःस्वप्न होती है। उसने एक नींद ली कि उतना उसका विचार-विकास हो गया। यों तो बीज जमीन में छिपा पड़ा रहता है, परन्तु वास्तव में वह अंकुरित होता रहता है। जब कल्ला फूटता है तो दिखाई देता है। इसी तरह उसकी नींद में नये-नये विचारों को पोषण मिलता रहता है। इस प्रकार दोनों की नींद में फर्क है। एक की नींद तमोगुण का उत्कर्ष है। तो कहाँ यह नींद और कहाँ वह, जिसमें तीनों गुण साम्यावस्था को पहुँच गये हों, मूल प्रकृति में स्थित हो गये हों। यों दीखने में दोनों का आकार एक ही-सा दिखाता है; परन्तु इससे क्या!

**१२८. नींद का उदाहरण**

यही बात साधारण व्यवहार के विषय में भी है। मानापमान

की नींव पर ही लोगों का बहुत-सा समाज-शास्त्र और नीति-शास्त्र रचा गया है, किन्तु इसकी तो मानापमान से जान-पहचान ही नहीं। मनुष्य सहसा कभी भी सहज भाव से खुलकर नहीं बरतता। जहाँ-तहाँ शिष्टाचार के नाम पर उसे अपना व्यवहार दम्भ-परिवेष्टित रखना पड़ता है। उसका जीवन सदा बनाव-शृंगार से ही सजा रहता है। हर जगह बनावट और ढोंग चाहिए ही। सभा में एक प्रकार का ढोंग तो समाज में दूसरे प्रकार का, कुटुम्ब में तीसरे प्रकार का, उत्सव में और तरह का, खेल में उससे अलग ढंग का। इस तरह सब जगह ढोंग और ऊपरी सजावट उसके जीवन में रहती है। परन्तु स्थितप्रज्ञ की सभी बातें स्वाभाविक, सरल और खुली होती हैं। इसी तरह उसका साधारण व्यवहार भी दूसरों से बिलकुल साफ तौर पर उलटा दिखाई देगा।

१२९. सामान्य व्यवहार में यही स्थिति

## २

यद्यपि हमने गीता के रूपक की भाषा में से इस तरह अपने विचार का अर्थ निकाला तो भी स्वयं गीता क्या सूचित करती है? दिखाई तो ऐसा देगा कि वह कुछ भी नहीं सुझाती है, केवल रूपक की भाषा बोलकर चुप रह जाती है; पर वस्तुतः ऐसा नहीं है। स्थितप्रज्ञ के लक्षण के बाद गीता का दूसरा अध्याय और सूत्र-रूप में गीता भी समाप्त हो जाती है। इसलिए यह समझना चाहिए कि जो विषय शुरू से विस्तार के साथ बताये, उन सबका समावेश इस श्लोक में किया गया है। अब तक पहले तो निर्गुण सांख्यबुद्धि, फिर तदुपकारक सगुण योगबुद्धि और अन्त में स्थितप्रज्ञ के लक्षण, जिनमें इन दोनों की परिणति दिखाई देती है—ऐसे तीन विषय बताये गये

१३०. इस रूपक की भाषा में सांख्य-बुद्धि, योग-बुद्धि और स्थितप्रज्ञ के लक्षण तीनों एक में लपेट दिये हैं

हैं। इन तीनों विषयों का सार गीता इस श्लोक के रूपक द्वारा प्रस्तुत करती है।

**१३१. सांख्य-बुद्धि का स्वरूप : आत्मा का अकर्तापन, तदनुसार प्रस्तुत श्लोक का पहला अर्थ**

( १ ) सांख्यबुद्धि का मतलब है आत्मा के स्वरूप का ज्ञान। तो यह ज्ञान प्राप्त कर लेने की झंझट शुरुआत में ही क्यों ? इसलिए कि आत्मा का ज्ञान किसी गैर का ज्ञान नहीं है। आत्मा कोई गैर नहीं है। वह मैं ही हूँ। अतः उसका स्वरूप सबसे पहले जान लेना जरूरी है। गीता कहती है—"आत्मा मरता नहीं, मारता नहीं, मरवाता नहीं।" मनुष्य का किसी क्रिया से संबंध तीन ही प्रकार से आता है—कर्तरि, कर्मणि और हेतुकर्तरि अथवा प्रेरक। ये तीनों आत्मा पर लागू नहीं होते। वह क्रिया का न कर्ता है, न कर्म है, न प्रेरक ही। इतना व्यापक अर्थ यहाँ सूचित है। 'मरना' क्रिया को सिर्फ उदाहरण के तौर पर लिया गया है। इसका अर्थ यह है कि वह सब क्रियाओं से सब तरह अस्पृष्ट है। शांकर-भाष्य में आत्मा के इस अकर्ता-स्वरूप का विवरण दर्पण की तरह स्पष्ट बताया गया है। आत्मा के अकर्ता-स्वरूप के ज्ञान को प्रकाश कहिये; इसके विपरीत आत्मा को कर्ता समझना अन्धकार हुआ। इस अन्धकार में समस्त प्राणियों का जीवन अन्धा बन गया है, परन्तु स्थितप्रज्ञ का जीवन आत्मा के प्रकाश से नित्य प्रकाशित है। यह प्रस्तुत श्लोक का पहला अर्थ है। साधारण मनुष्य 'मैं अमुक कर्म का कर्ता', 'मेरे कर्म अच्छे', 'मैं अमुक का बेटा', 'अमुक सम्पत्ति का मालिक', 'मेरा यह आकार', 'यह उमर', 'यह जाति', इत्यादि भावनाओं का जाल अपने आसपास फैलाकर असंख्य कर्मों का बोझ अपने ऊपर लाद लेता है। जब कि स्थितप्रज्ञ यह समझता है कि ये सब मुझ पर लागू नहीं होते और केवल 'स्वरूपावस्थान' इस एक ही धर्म को जानता है। इतना दोनों के जीवन में भेद है ! तो फिर उसे प्रकाश और अन्धकार न कहें तो क्या कहें ?

( २ ) योग-बुद्धि—आत्मा अकर्ता है, इसलिए यदि देह से भी कर्म छोड़ बैठोगे तो तमोगुण में जा पड़ोगे। इसके विपरीत यदि कर्म करोगे तो रजोगुण में पड़ोगे—ऐसा दुहरा पेच है। अतः गीता ने एक युक्ति निकाली। कर्तृत्व जहाँ जोर मारता हो, वहीं उसे तोड़ डालो। कर्तृत्व जोर कहाँ मारता है? फल के अवसर पर। "मैंने काम किया है तो मैं वेतन का अधिकारी हूँ!" फल के संबंध में इस तरह कर्तृत्व का हक जोर मारता रहता है। अतः फल का अधिकार छोड़ देना ही कर्तापन को छोड़ देना है। फलाशा की नोक तोड़ डालें तो फिर कर्तृत्व-विषयक अभिमान चला जाता है। गीता कहती है—"तुमने आत्मा का अकर्तापन मान लिया है। तब जब कि कर्म ही तुम्हारा नहीं है तो फिर फल कहाँ से होगा?" 'मैं देह से भिन्न अकर्ता हूँ', ऐसा अभ्यास कर्म छोड़ देने से नहीं हो सकता। फल को छोड़ने से ही होगा। आत्मा के अकर्तापन की अनुभूति का आरम्भ कर्मच्छेदन से नहीं, फलच्छेद से होता है। इस तरह बिलकुल 'बालोद्योग' पद्धति से अकर्तापन के अभ्यास का पदार्थ-पाठ गीता ने दिया है। फल को तोड़कर फेंकते जाओ, तो फिर कर्मों को तोड़ फेंकने की जरूरत नहीं रहेगी। समाज-शास्त्र और नीति-शास्त्र के अनुसार तुम्हें फल का अधिकार है, परन्तु तुम तो गीता के अनुयायी हुए हो न? गीता-माता का बालक होने का सौभाग्य तुम्हें प्राप्त हुआ है। अतः उसके बालक के अनुरूप ही फल-त्याग का ऐश्वर्य तुम्हें प्राप्त हुआ है।

१३२. योग-बुद्धि का स्वरूप : फल-त्याग

गीता का वचन, जो फल को तोड़ डालने की युक्ति बताता है, प्रसिद्ध ही है—**'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।'** परन्तु इसका अर्थ ठीक नहीं किया जाता। 'तुम्हें कर्म करने का अधिकार है, फल का नहीं।' ऐसा इसका अर्थ किया जाता है। परन्तु जब यह पूछते हैं कि यदि कर्म का अधिकार है तो फिर फल का

१३३. आनुषंगिक चर्चा—'मा फलेषु' का यह अर्थ कि फल का अधिकार नहीं, गलत है।

क्यों नहीं ? तो इसका उत्तर दिया जाता है कि फल-प्राप्ति केवल मनुष्य के वस की वात नहीं है। वह अनेकविध वाहरी परिस्थितियों पर अवलम्बित है, अर्थात् यह दैववाद हुआ। इसमें विलकुल ही तथ्य न हो सो वात नहीं, परन्तु उससे यहाँ प्रदर्शित विचार सिद्ध नहीं हो सकते। क्योंकि जिस कारण से, फल पाना मनुष्य के हाथ में नहीं है, तो और उसी कारण से, कर्म भी मनुष्य के हाथ में नहीं है। दोनों अनेकविध वाह्य परिस्थितियों पर अवलम्बित रहते हैं। जो वात फल के विषय में है वही कर्म के विषय में भी है। यदि कर्म का अधिकार है तो फल का भी है। भले ही परिपूर्ण न हो, आंशिक ही हो, पर है अवश्य। यदि फल का अधिकार नहीं है तो फिर कर्म का भी नहीं हो सकता। अतः यह अर्थ उपयोगी नहीं है।

तो फिर इस वचन का सही अर्थ क्या है ? इसके लिए जरा संस्कृत के व्याकरण पर ध्यान देना होगा। यहाँ 'मा फलेषु' कहा है, 'न फलेषु' नहीं। व्याकरण के अनुसार 'मा' के वाद 'अस्ति' या 'भवति' ऐसी वर्तमानकालीन क्रिया नहीं आती।

**१३४. फल का अधिकार है, पर उसे छोड़ देना है**

'अस्तु' या 'भवतु' ऐसा रूप आता है। तदनुसार 'कर्मणि एव ते अधिकारः अस्तु, फलेषु मा अस्तु !' इस तरह पूरा वाक्य वनता है। उसका अर्थ हुआ 'कर्म का ही तुझे अधिकार रहे, फल का नहीं।' परन्तु व्याकरण के अनुसार यद्यपि हमने ऐसा अर्थ-शोधन किया, तो भी आखिर कहना क्या है ? यह कि "कर्म का अधिकार है, अतएव फल का भी है, लेकिन तू कर्म का अधिकार तो रख, परन्तु फल का छोड़ दे।" यह क्यों ? तो गीता कहती है कि तुम्हारा तत्त्वज्ञान ही यह वताता है कि मैं कर्ता नहीं हूँ। अतः यदि तुम्हें अपने अकर्तापन का अनुभव करना हो, तो तुम फल को ग्रहण मत करो।

इस विषय में स्थितप्रज्ञ की तथा औरों की भूमिका में वड़ा अन्तर है। साधारण लोगों की भूमिका यह कहती है—"करूँगा तो

फल के लिए करूँगा, नहीं तो कर्म ही छोड़ दूँगा। लूँगा तो फल के सहित लूँगा, छोड़ूँगा तो कर्म के सहित छोड़ूँगा।" इतना ही होता तो गनीमत थी; परन्तु कितने ही लोग तो इससे भी आगे चले आने को तैयार हैं। 'कर्म किये विना ही फल मिल जाय तो बहुत बेहतर, नहीं ही मिले और कर्म किसी प्रकार टाला ही न जा सके तो करेंगे; परन्तु फल तो किसी भी दशा में नहीं छोड़ने के।' इस हीन वृत्ति से ही आज का सारा संसार भरा हुआ है। खुद मेहनत किये विना दूसरों की मेहनत का फायदा कैसे उठा लें, इसकी योजना दो-चार बदमाश ही नहीं, बल्कि पूरे राष्ट्र-के-राष्ट्र बना रहे हैं। नाजीवाद, फासिस्टवाद, पूँजीवाद, साम्राज्यवाद—इस तरह के अनेक मुफ्तखोरवाद इस हीन वृत्ति का समर्थन करने के लिए रचे गये हैं। यह बात नहीं कि यह हालत आज ही हुई हो। आज इसका जोर ज्यादा है। प्राचीनकाल से लेकर आज तक यह प्रायः अखण्ड चली आ रही है। यही कारण है जो गीता ने सारा सोलहवाँ अध्याय इस वृत्ति का निषेध करने के लिए, उसे आसुरी वृत्ति नाम देकर रचा है। इस तरह एक कर्म करे और दूसरा उसका फल उड़ाये, ऐसी परिस्थिति समाज में होने के कारण 'जिसका कर्म, उसीका फल' इतना भी निभ जाय तो गनीमत समझिये—इस प्रकार की भूमिका नीति-शास्त्र और समाज-शास्त्र की है। इसलिए समाज-शास्त्र और नीति-शास्त्र इस बात पर जोर देते हैं कि समाज में योग्य व्यक्ति को ही प्रतिष्ठा हो, योग्य मनुष्य को ही फल मिले। और समाज में रूढ़ हुई वृत्ति का तथा इन दो शास्त्रों के सीमित क्षेत्र का विचार किया जाय, तो उनकी यही भूमिका उचित भी है।

१३५. नीति-शास्त्र की भूमिका : जिसका कर्म, उसीको फल

परन्तु गीता की भूमिका इससे ऊँची है। इस कारण किसीको वह निरुपयोगी भले ही प्रतीत हो, परन्तु जैसी है वैसी ही उसे समझ लेनी चाहिए। गीता कहती है—"कर्तापन के अभिमान से छूटने के

लिए फल को अपने से अलग कर दे, ईश्वर को अर्पण कर दे, समाज को दे दे, चाहे तो हवा में फेंक दे, परन्तु तू स्वयं उसे मत ले। किसी-

**१३६. योग-बुद्धि की भूमिका उससे ऊँची : तदनुसार इस श्लोक का दूसरा अर्थ**

के कहने से नहीं, बल्कि इसलिए कि तेरा तत्त्वज्ञान ही इस विषय में बाधक होता है। तेरा तत्त्वज्ञान कहता है कि आत्मा से किसी क्रिया का सम्बन्ध नहीं है। और आत्मा को क्रिया का स्पर्श न होने देने की युक्ति है फल को छोड़ देना।" यह तत्त्वज्ञान ही गीता के निष्काम कर्म-योग की बुनियाद है। बहुत-से लोग कहते हैं कि गीता के आरम्भ में यह तत्त्वज्ञान व्यर्थ डाल दिया। पहले कर्मयोग बताना चाहिए था। परन्तु यह खयाल गलत है। गीता का कर्मयोग आत्म-ज्ञान की नींव पर ही खड़ा हो सकता है। वह केवल कर्म करने के लिए नहीं कहता, बल्कि फल छोड़ने के लिए कहता है। यदि आत्म-ज्ञान-संबंधी भाग उसमें से निकाल डालें, तो फिर फल-त्याग का तत्त्व टिक ही नहीं सकता। कर्म-त्याग पूर्ण रूप से सम्भव नहीं; क्योंकि मैं यद्यपि आत्म-स्वरूप हूँ, तथापि वर्तमान स्थिति में शरीर से घिरा हुआ हूँ। दूसरी ओर, फलयुक्त कर्म का हिसाब ठीक नहीं बैठता, क्योंकि 'मैं अकर्ता हूँ' यह भावना दृढ़ है। देह के कारण कर्म छूटता नहीं और हमारे अपने तत्त्वज्ञान के कारण फलयुक्त कर्म का हिसाब बैठता नहीं। इस तरह इन दोनों ओर की कठिनाइयों में से गीता ने फलत्याग-पूर्वक कर्म-योग की युक्ति खोज निकाली है। चाहे तो इसे 'मुरारेः तृतीयः पन्थाः' कहिये। रेखागणित के प्रमेयों से जैसे उपप्रमेय निकलता है ठीक उसी तरह बिलकुल तर्क-शुद्ध रीति से आत्मा के अकर्तापन में फल-त्याग का सिद्धांत फलित होता है। तो इस कर्मयोग की दृष्टि से हम **'या निशा सर्वभूतानाम्'** इस श्लोक की ओर देख सकते हैं; और इस तरह देखें तो फिर इस श्लोक का ऐसा अर्थ निकलता है—
"दूसरे लोग फल के प्रति जागरूक रहते हैं और अपने कर्तव्य के प्रति सोते रहते हैं; किन्तु स्थितप्रज्ञ केवल फल के प्रति सोता है और

कर्तव्य के विषय में जाग्रत रहता है।'' यह इस श्लोक का दूसरा अभिप्रेत अर्थ है।

( ३ ) स्थितप्रज्ञ के लक्षणानुसार इसका एक तीसरा भी अर्थ है। वस्तुत: तीनों अर्थ मूल में समान और एक ही हैं, परन्तु भिन्न-भिन्न भूमिकाओं से भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं। इन्द्रिय-निरोध को स्थितप्रज्ञ का लक्षण बताते हुए यह सिद्ध किया है कि भोग-वाद से बुद्धि-नाश होता है और बुद्धि स्थिर होने के लिए संयम की आवश्यकता है। उसके अनुसार यहाँ स्थितप्रज्ञ भोगों के प्रति सोया हुआ और संयम के प्रति जागरूक और साधारण मनुष्य संयम के प्रति सोया हुआ और भोगों के विषय में जाग्रत—यह अर्थ करना उचित है।

**१३७. स्थितप्रज्ञ के लक्षणानुसार इस श्लोक का तीसरा अर्थ**

इस तरह गीता के इस रूपक द्वारा ये तीन अर्थ सूचित किये गये हैं, ऐसा समझना चाहिए। जब यह देखते हैं कि इस सूचना की कुछ ध्वनि या संकेत इस श्लोक में मिलते हैं या नहीं, तो 'पश्यन्', 'मुनि' और 'संयमी' ये तीन शब्द हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। 'पश्यन्' शब्द से सांख्यबुद्धि-निष्ठ आत्मज्ञानी, 'मुनि' शब्द से योगबुद्धि-निष्ठ कर्मयोगी और 'संयमी' शब्द से उभय-बुद्धि-सम्पन्न स्थितप्रज्ञ, जिसका प्रसंग यहाँ चल रहा है, ये अर्थ ध्यान में आते हैं और यह निष्कर्ष निकलता है कि ये तीन अर्थ विशेष रूप से यहाँ सुझाने थे। परन्तु इस रूपक का सामान्य अर्थ तो यह है कि स्थितप्रज्ञ और साधारण मनुष्यों की जीवन-दृष्टियाँ ही बिलकुल भिन्न होती हैं; इसलिए इन तीन विशिष्ट अर्थों को ही न लेकर कुल मिलाकर सर्वजीवन-व्यापी अर्थ भी लिया जा सकेगा और वही हमने आरम्भ में लिया भी था। गहराई से देखें तो ऐसा ही दिखाई देगा कि ये तीन विशिष्ट अर्थ हैं भी जीवन-व्यापी। ●

**१३८. गीता के श्लोक में बताये गये तीनों अर्थों के संकेत**

# चौदहवाँ व्याख्यान

## १

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥

इस श्लोक में स्थित-प्रज्ञ का वर्णन दूसरे प्रकार से किया है। पहले हम श्लोक को समझ लें—'आपूर्यमाणं अचलप्रतिष्ठं समुद्रं यद्वत् आपः प्रविशन्ति, तद्वत् सर्वे कामाः यं प्रविशन्ति, स शान्ति आप्नोति' यह एक वाक्य है। 'न कामकामी' दूसरा वाक्य है। 'आपूर्यमाणं अपि, अचल-प्रतिष्ठम्' ऐसा 'अपि' शब्द का अध्याहार करना है। 'आपूर्यमाणम्' का अर्थ है सब तरफ से सतत भरता रहनेवाला। फिर भी अपनी मर्यादा नहीं छोड़ता, अपनी प्रतिष्ठा से चलित नहीं होता। "समुद्र जिस तरह चारों ओर से आनेवाला पानी अपने अन्दर समा लेता है, फिर भी अपनी सीमा का उल्लंघन नहीं करता, उसी तरह स्थितप्रज्ञ अनेक कामों के चारों ओर से उसके अन्दर प्रवेश करते रहने पर भी विचलित नहीं होता, इसलिए वह शान्ति प्राप्त करता है। "जो कामों के पीछे दौड़ता है उसे शान्ति प्राप्त नहीं होती।" यह इस श्लोक का अक्षरार्थ है। श्लोक है तो बड़ा रमणीय, परन्तु समझने में जरा कठिन है।

१३९. खुलासे का दूसरा सांकेतिक श्लोक। ज्ञानी समुद्र की तरह सब काम पचा जाता है।

यहाँ पहले 'काम' शब्द के अर्थ का विचार कर लें। 'काम' शब्द का प्रयोग स्थितप्रज्ञ के लक्षणों में एक जगह एकवचन में हुआ है और दूसरी जगहों पर बहुवचन में। 'संगात् संजायते कामः' यहाँ 'काम' शब्द एकवचन में आया है। यहाँ काम

१४०. 'काम' शब्द के अर्थ की छानबीन

शब्द का अर्थ है मूल विकार। इस मूल काम से अवान्तर कामनाएँ उत्पन्न होती हैं। इस एकवचनी काम के लिए हिन्दी में दूसरा शब्द नहीं है, अतः वह उसी शब्द से दर्शाया जायगा। बहुवचनी 'काम' शब्द बिलकुल शुरू में 'प्रजहाति यदा कामान्' यहाँ और अन्त में 'विहाय कामान् यः सर्वान्' यहाँ एक ही तरह से आया है। इन दोनों स्थानों पर उसका अर्थ कामना लेना है। ये कामनाएँ

समुद्र में जिस प्रकार चारों ओर से पानी एक-सा आता रहता है उसी तरह विश्व के अनंत विषय स्थितप्रज्ञ के समीप आते ही मनोगत होने के कारण उनका त्याग शक्य है, इष्ट है। वह अवश्य करना चाहिए। यह कहा गया है कि स्थितप्रज्ञ यों उनका त्याग कर चुका है। इसके अलावा दूसरे प्रकार से बहुवचनी 'काम' शब्द इसी श्लोक मेंआया है। 'कामाः यं प्रविशन्ति'—यहाँ काम का अर्थ मनोगत कामनाएँ नहीं है। 'काम्यन्ते इति कामाः'—जिसके विषय में कामना की जाय सो काम, ऐसी व्युत्पत्ति से उसका अर्थ यहाँ होता है बाह्य विषय, उपभोग्य पदार्थ, विषय-भोग। इस अर्थ में 'काम' शब्द उपनिषद् में भी आया है। **'ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके'** अर्थात् 'जो-जो विषय भोग इस जगत्में दुर्लभ हैं वे सब मैं तुझे देता हूँ', ऐसा प्रलोभन यम ने नचिकेता को दिया है। इस वाक्य में काम शब्द का अर्थ 'बाह्य उपभोग्य विषय' है। यही अर्थ प्रस्तुत वाक्य में भी है। कुल मिलाकर मूल विकार 'काम', मनोगत 'कामना' और तदाधारभूत बाह्य विषयों के 'भोग'—इस तरह काम शब्द के तीन मुख्य अर्थ हैं। बाह्य विषयों को कामना के आधारभूत कहने का कारण यह कि उनके आश्रय से मन में कामना जाग्रत होती है। ये विषय ही मन में कामना उत्पन्न होने के लिए कारण होते हों सो बात नहीं। वे कामना के निमित्त बनते हैं। अनेक जन्मों के पूर्व कर्म, अनेक नये और पुराने अनुभव और उनसे उत्पन्न संस्कार, ये हमारे मन की कामनाओं के मूल कारण हैं। इन्हींके कारण इन बाह्य पदार्थों को उपभोग्यत्व अथवा विषयत्व प्राप्त होता है।

रहते हैं। आँख के सामने आँख के विषय, कान के सामने कान के विषय खड़े रहते हैं। परन्तु समुद्र जिस तरह सारे पानी को अपने स्वरूप में ग्रहण करके आत्मसात् कर लेता है, उसी तरह स्थितप्रज्ञ सारे विषय-भोगों को अपने स्वरूप में मिला लेता है। आँखों को जो

**१४१. स्थितप्रज्ञ सब काम पचा लेता है, यह उसके ज्ञान का गौरव है**

रूप दिखाई देगा, कानों में जो शब्द पड़ जायगा और इसी तरह दूसरी इन्द्रियों को उनके जो-जो विषय प्राप्त होंगे उन सबको वह आत्म-स्वरूप में लवलीन कर डालता है, मन पर उसका कुछ भी असर नहीं होने देता। अनुकूल और प्रतिकूल वेदना के रूप में बाह्य विषयों का असर मन पर होता रहता है। इसे मन का धर्म कहिये, विषय का कहिये या मन और विषय दोनों का कहिये, मुख्य बात यह कि इन विषयों को मिटाना संभव नहीं है। यदि हम यह तय करें कि हमारे संयम के लिए तमाम बाह्य विषय मिटा दिये जायँ तो फिर सारे संसार का ही लय कर देना होगा, सो संभव नहीं। उसकी जरूरत भी नहीं। बाहर के विषय इन्द्रियों के द्वारा प्रवेश करते रहते हैं, तो भी स्थितप्रज्ञ के चित्त पर उनका प्रभाव नहीं पड़ता। उसकी स्थिति अडोल रहती है। इस तरह यहाँ स्थितप्रज्ञ पुरुष का वैभव बताया गया है। उसे बाह्य विषयों का त्याग नहीं करना, बल्कि हृदयस्थ कामनाओं को मिटा देना है और उन्हें वह मिटा ही चुका है। उसे किसी भी विषय से दूर रहने की जरूरत नहीं। सारे विषयों के बाजार में भी यदि उसे लाकर खड़ा कर दिया जाय तो भी वह अपनी स्थिति से डिगता नहीं। इस पर नीति-शास्त्र हमसे पूछेगा कि क्या उसका ग्राह्याग्राह्यविवेक अथवा नीति-विचार नष्ट हो जाता है? उसका उत्तर यह है कि यह श्लोक इसलिए नहीं लिखा गया कि कौन-सा विषय ग्रहण करें और कौन-सा छोड़ें, इसका नीति-सूत्र बतायें; इसमें तो ज्ञान की महिमा का बखान किया गया है, ज्ञानी पुरुष का गौरव गाया गया है।

## २

स्थितप्रज्ञ की अविचल स्थिति का दुहरा वर्णन किया जा सकता है: एक ओर उसमें अत्यन्त परिशुद्ध कर्म भी असंभव और दूसरी ओर निषिद्ध कर्म भी संभव; एक ओर सब शुभाशुभ कर्मों का संन्यास, तो दूसरी ओर सब शुभाशुभ कर्मों का योग—ऐसी दोनों सिरे की अवस्थाएँ बताकर स्थितप्रज्ञ का वर्णन किया जा सकता है। एक ओर यह कहा जायगा कि ज्ञानी कुछ भी नहीं करता है। वह हाथ तक नहीं हिलाता, यहाँ तक कि अच्छे कर्म भी नहीं करता। इसके विपरीत यह भी कहा जा सकेगा कि वह त्रिभुवन को आग लगा सकता है। फिर भी इन दोनों कथनों में विरोध न होगा। यही उसकी भूमिका की खूबी है। विचारकों के ऐसे परस्पर-विरुद्ध प्रतिपादन में यह खूबी दिखाई देती है। उदाहरणार्थ, श्रीशंकराचार्य प्रसिद्ध मुक्तिवादी अतएव सर्वकर्म-संन्यासवादी थे। उनका कहना था कि ज्ञानी से कर्म हो ही नहीं सकता; परन्तु वही अपने भाष्य में कहते हैं—"ज्ञानी समस्त कर्मों—निषिद्ध कर्मों—को भी करके अकर्ता रहता है।" **'सर्वकर्माण्यपि, निषिद्धान्यपि, कुर्वाणा:।'** यदि नीति-शास्त्र भाष्यकार से आग्रहपूर्वक प्रश्न करे कि क्या ज्ञानी सचमुच कोई निषिद्ध कर्म करेगा, तो वे उत्तर देंगे कि यहाँ मैं नीति-अनीति की चर्चा नहीं कर रहा हूँ, ज्ञान का गौरव बता रहा हूँ। यदि यह पूछोगे कि ज्ञानी क्या करेगा तो मेरी दृष्टि से वह शुद्ध अथवा शुभ कर्म भी नहीं करेगा। वह कुछ भी नहीं करता। वह हिलता-डुलता तक नहीं। परन्तु इस पर भी नीति-शास्त्र उनसे कहेगा कि आप तो ठेठ दूसरे सिरे पर जा पहुँचे। इसका उत्तर वे देंगे—'भैया, मैंने यह ज्ञानी का नीति-सूत्र नहीं बताया, उसके ज्ञान का स्वरूप बताया है।" अर्थात् एक ओर ज्ञान का गौरव बताया और दूसरी ओर ज्ञान का स्वरूप। स्थितप्रज्ञ के ज्ञान का स्वरूप यह कि

१४२. ज्ञान के गौरव और ज्ञान के स्वरूप के बीच में उसका नीति-सूत्र है

वह कोई भी कर्म नहीं करता। उसके ज्ञान का गौरव यह है कि निषिद्ध कर्म भी उसे बाधक नहीं होते। स्थितप्रज्ञ के ज्ञान के स्वरूप और ज्ञान के गौरव के बीच में स्थितप्रज्ञ का नीति-सूत्र रहता है।

**१४३. बीच में, अर्थात् कहाँ ? यह तत्कालीन समाज की भूमिका पर अवलम्बित रहेगा**

बीच में अर्थात् कहाँ ? इसका निश्चित उत्तर देना कठिन होगा। समाज जैसे-जैसे ऊँची भूमिका पर चढ़ता जायगा, वैसे-वैसे समाज के ज्ञानी मनुष्यों के विचार भी ज्यादा गहरे जाते जायँगे। कुल मिलाकर समाज का अनुभव जैसे-जैसे बढ़ता जायगा, वैसे-वैसे स्थितप्रज्ञ की प्रज्ञा भी अधिक स्पष्ट होती जायगी। अर्थात् अनासक्ति में, अक्षरशः और व्यवहारतः कौन-कौन से कर्म समा सकेंगे, इसका मापदण्ड भी उत्तरोत्तर भिन्न होता जायगा। यदि पहले से आज समाज की अधिक प्रगति हुई होगी, तो पहले के स्थितप्रज्ञों की अपेक्षा आज के स्थितप्रज्ञ अधिक प्रगत होंगे। ऐसा कहना है तो बड़े साहस का काम, परन्तु विचार करने पर दिखाई देगा कि यही यथार्थ है। स्थितप्रज्ञों को भी प्रगति की यह भाषा स्थूल अर्थ में ही ग्रहण करनी चाहिए। अर्थात् वह व्यावहारिक है, आन्तरिक नहीं। सब स्थितप्रज्ञों का आन्तरिक लक्षण एक ही रहेगा। उनकी आत्मस्थिति कभी भंग न होगी, सदा अवि-चलित रहेगी; यही वह लक्षण है। उनके कर्म करने का नीति-सूत्र यह रहेगा कि यह लक्षण डिगे नहीं। यह बात उन्हें स्वयं अपने ही अनुभव से मालूम होती जायगी। उसे सब लोगों के समझने लायक सुनिश्चित भाषा में हमेशा के लिए प्रकट करना असंभव है।

**१४४. ज्ञानी के नीति-सूत्रों के संबंध में ग्रांथिक कल्पना अनर्थकारक**

अनुभव का आधार छोड़कर कल्पना से ही काम चला लेने से स्पष्टता होने के बजाय घोटाला ही होगा। इसका उदाहरण कई भक्ति-मार्गी और कर्मयोगवादी लोगों के विवेचनों में मिलता है। भक्ति-मार्गियों ने तो यहाँ तक उड़ान भरी है कि श्रीकृष्ण को व्यभिचारी तक मान

ोया। यह उनकी श्रीकृष्ण पर मेहरबानी है, जो उन्होंने उन्हें अलिप्त' माना है। अब कहना हो तो भले ही कहिये कि उन्होंने ीकृष्ण की अनासक्ति में उनका तथाकथित व्यभिचार भी समा या मानकर, अपने भक्ति-भाव की उत्कटता प्रकट की है। इसी रह कुछ कर्मयोगवादी प्रतिपादन करते हैं कि 'सब भूतों में भगवद्-ाव' रखनेवाला स्थितप्रज्ञ जबरदस्त हिंसात्मक लड़ाइयाँ भी लड़ सकता ;। इसमें भी उन्होंने स्थितप्रज्ञ का नीति-सूत्र बताने के बजाय पनी कल्पना का वैभव ही प्रकट किया है। एक के लिए भागवत ा आधार मिल गया तो दूसरे के लिए महाभारत का। बिना ाधार के तो कोई कुछ कहता ही नहीं; परन्तु आधार होना चाहिए ाज की समाज-स्थिति में इस क्षण के प्रत्यक्ष स्वानुभव का। इस ानुभव के बल पर जो कुछ कहा जायगा, वही यथार्थ समझा जायगा, ौर वह भी इसी काल के लिए। भविष्यकाल के लिए वह बन्धन-ारक नहीं हो सकता; परन्तु यदि स्थितप्रज्ञ का जैसा आन्तरिक क्षण हमने तीनों काल के लिए ढूँढ़ निकाला, वैसा ही यदि त्रिका-लक नीति-सूत्र बताना हो तो 'या निशा सर्वभूतानाम्' इस श्लोक ; अनुसार बताना होगा—अर्थात् विवेक उसका नीति-सूत्र होगा।

## ३

इस श्लोक के अर्थ के विषय में कुछ लोगों को तो भीति मालूम ोती है और कुछ को विशेष प्रीति। नीति-निष्ठों को यह भीति मालूम होती है कि इस श्लोक में एक विचित्र नीति-सूत्र बताया गया है, जिसके अनुसार यदि स्थितप्रज्ञ चलने लगे तो नीति ही उड़ जायगी। दूसरी ओर कितने ही लोगों को उससे इसलिए प्रीति ोती है कि एक बार स्थितप्रज्ञ हो जाने से फिर समुद्र की तरह हर ात को अपने में समा सकेंगे, आचार-व्यवहार में कोई रोक-टोक न हेगी। पर वस्तुतः यहाँ न भीति के लिए कोई गुंजाइश है और

४५. इस श्लोक को देखने की दूसरी दृष्टि : स्थितप्रज्ञ भावावस्था में सब शुभ देखता है।

न प्रीति के लिए; क्योंकि हम अभी देख चुके हैं कि स्थितप्रज्ञ में सब विषय-भोगों के प्रविष्ट होते हुए भी वह तटस्थ रहता है—इस कथन के द्वारा स्थितप्रज्ञ के लिए कोई नीति-सूत्र नहीं, बल्कि उसकी आत्मस्थिति का गौरव बताया गया है; परन्तु इससे भी भिन्न दृष्टि से इस श्लोक की ओर देखा जा सकता है और उस दृष्टि से देखना ही यहाँ विशेष रूप से अभिप्रेत है। यह तो सत्य ही है कि इसमें स्थितप्रज्ञ का नीति-सूत्र नहीं, बल्कि गौरव बताया गया है; परन्तु इसके अलावा भी उसमें मुख्यतः उसकी भाव-दृष्टि बतायी गयी है, ऐसा समझना चाहिए। स्थितप्रज्ञ तो एक ही है, परन्तु उसकी भूमिकाएँ अलग-अलग होती हैं। एक उसकी कर्मयोग की भूमिका, दूसरी ध्यान-भूमिका। कर्मयोगवाली भूमिका का आचार-सूत्र 'या निशा सर्व-भूतानाम्' इस सूत्र में बताया गया है। इसमें उसकी जाग्रत विवेक-शक्ति का वर्णन है। उसे सत् तथा असत् का निरन्तर भान रहता है और सत् को ग्रहण करके असत् का निराकरण करना, उसके कर्मयोग-काल की भूमिका होती है। परन्तु समुद्र की उपमावाले इस श्लोक में उसका ध्यान-योग की भूमिका का भाव बताया गया है। यहाँ उसकी भावना की व्यापकता और भव्यता का दर्शन है। उसकी विशाल और उदार दृष्टि के विस्तार में सारा विश्व समा जाता है। उसकी दृष्टि में सभी शुभ, सभी पावन, सभी मंगल दिखाई देता है।

**१४६. शुभ + अशुभ = शुभ; क्योंकि अशुभ = ०**

वस्तुतः संसार में अशुभ का कोई स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं है। अशुभ शुभ के सहारे से आता है। अशुभ अर्थात् शुभ की छाया। छाया से वस्तु का वस्तुत्व नहीं मिटता। उसमें कोई फर्क भी नहीं पड़ता। बल्कि वस्तु स्पष्ट दीखती है। सफेद कागज पर यदि बिना रंग के चित्र बनाने लगें तो वह बन ही नहीं सकेगा। कागज कोरा-का-कोरा रह जायगा। केवल शुभ अव्यक्त ही रहेगा, वह साकार नहीं होगा। ईश्वरीय योजना में शुभ को स्पष्ट दिखाने के लोभ से अशुभ का प्रादुर्भाव हुआ। मनुष्य की छाया का कुछ

भी मूल्य नहीं। इस जेल में ५० कैदी हैं। उनकी पचास, सौ या डेढ़ सौ छायाएँ पड़ सकेंगी; परन्तु इसलिए कोई कैदियों की 'गिनती' करते समय सौ, डेढ़ सौ या दो सौ नहीं गिनता, क्योंकि छाया की कोई सत्ता नहीं। अर्थात् वह अभाव-रूप ही है। अन्धकार का वर्णन करते समय हम उसे प्रकाश का अभाव कहते हैं, प्रकाश को अन्धकार का अभाव नहीं कहते। अन्धकार कोई वस्तु नहीं है, प्रकाश वस्तु है। प्रकाश को दिखाने के लिए अन्धकार काम आया। अशुभ का कार्य शुभ का रूप दिखाना ही है। अतः स्थितप्रज्ञ उससे नहीं डरता। उससे उसकी वृत्ति का मांगल्य नहीं बिगड़ता; बल्कि अशुभ का शुभ पर उपकार ही हुआ, उसने शुभ को प्रकट किया, उसमें उठाव—स्पष्टता ला दी, इसी दृष्टि से वह उसे देखता है। उसकी सर्व-संग्राहक भावना को सारा शुभ-अशुभ विश्व स्वीकार्य ही लगता है या यों कहें कि उसकी दृष्टि को शुभ-अशुभ मिलाकर शुभ ही दीखता है। गणित की भाषा में उसका दर्शन उस तरह कराया जा सकता है—शुभ + अशुभ = शुभ; क्योंकि अशुभ = ०। तो फिर इस शून्य की आवश्यकता ही क्या है? यह चाहिए किसलिए? इसलिए कि उसके कारण सारा गणित-शास्त्र बन पाया। शून्य की चाहे कुछ भी कीमत न हो तो भी एक पर शून्य रखने से दस हो जाते हैं। उसकी सन्निधि में एक की प्रभा फैल जाती है। इस तरह शुभ शोभा को निखारकर मानो अशुभ भी सुशोभित हो गया है।

**१४७. अशुभ मिथ्या, साधना मिथ्या, अशुभ का मरण मिथ्या। केवल एक शुभ सत्य : यह है भावावस्था**

यह मानकर कि यह तत्त्वज्ञान तो बड़ा सुविधाजनक है, अशुभ के लोभ से जो शुभाशुभ-मिश्रण को स्वीकार कर लेंगे, वे मानो अपनी आत्महत्या ही करेंगे। अशुभ-मिश्रित शुभ भी अशुभ ही है। विष-मिला अन्न भी विष ही है। अतः जो यह कहता है कि नीति-शास्त्र शुभाशुभ के मिश्रण पर खड़ा करना चाहिए, मानो उसने आत्म-नाश की ही तैयारी कर ली। स्थित-प्रज्ञ की दृष्टि ऐसी नहीं। वह

अशुभ को शुभ के रूप में ग्रहण नहीं करता। अशुभ का मोह उसे नहीं। यह हमने देख ही लिया कि अपनी कृतियों में वह शुभाशुभ-विवेक को कभी नहीं छोड़ता; परन्तु उसकी कृति और दृष्टि में अन्तर है। उसकी जगत्-विषयक दृष्टि ऐसी रहती है कि उसे जगत् में अशुभ का दर्शन ही नहीं होता। अच्छों के साथ बुरों को भी वह कहता है— "तुम सब आओ। सब मेरे ही तो हो!" यदि वे कहें कि हम तो अशुभ हैं, तो वह उन्हें कहेगा—"तुम अपने को अशुभ कहते हो, पर वस्तुतः अशुभ नहीं हो। कहो कि हम अशुभ नहीं हैं।" फिर भी जिनका यही आग्रह है कि 'हम तो अशुभ हैं' उन्हें वह पावन कर लेता है। उसकी पावन दृष्टि से अशुभ को शुभत्व प्राप्त हो जाता है। अशुभ भ्रम है। अशुभ की स्थिति भूत या हौवे की तरह है। शिक्षक लड़के से कहते हैं—न कहीं भूत है न हौवा, परन्तु लड़के की समझ में नहीं आता। घर आकर वह माँ से कहता है—देख, वह हौवा दीखता है न, नहीं कैसे? तब माँ कहती है, अच्छा, ले, मैं उसे मंत्र मारकर भगा देती हूँ। लड़का समझता है कि माँ ने हौवे को मार डाला। उसको तसल्ली हो जाती है। ज्ञानी कहता है, तुम सब शुभ हो, शुद्ध हो। तुममें कोई दोष नहीं, बिगाड़ नहीं, तुम्हें कुछ नहीं हुआ। तब भी जो कहते हैं कि हम तो खराब हैं, तो उन्हें वह कहता है—अच्छा, मैं तुम्हें मंत्र बताता हूँ, साधना बताता हूँ; परन्तु वह केवल हौवे को मार डालनेभर के लिए। अशुभ मिथ्या, साधना मिथ्या, अशुभ का मरण भी मिथ्या, केवल एक शुभमात्र सत्य। जिसकी दृष्टि ही ऐसी बन गयी कि संसार में शुभ के सिवा कुछ भी नहीं है, उसे शान्ति प्राप्त होती है—यह क्या शब्द द्वारा बताने की आवश्यकता है!

●

# पन्द्रहवाँ व्याख्यान

## १

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥

'सब कामना छोड़कर जो पुरुष निःस्पृह होकर विचरता है, जिसकी अहंता और ममता नष्ट हो गयी है, वह शांति-रूप ही हो गया।' यह स्थितप्रज्ञ-प्रकरण का उपसंहार-वचन है। स्थित-प्रज्ञ के लक्षणों की शुरुआत कामना-त्याग से की गयी है। यहाँ उसका उपसंहार भी कामना-त्याग से ही किया है। 'सब कामना छोड़कर जो निःस्पृह हो जाता है, उसे शान्ति मिलती है', यह अन्तिम वाक्य है। स्पृहा का अर्थ है वासना अथवा कामना। सो तो छोड़ ही चुके हैं। तब फिर से निःस्पृह कहने से क्या मतलब? जब सब कामनाएँ छोड़ दीं तो फिर स्पृहा भी छोड़ दी। तब 'निःस्पृह' शब्द क्यों जोड़ा गया? "जिसने सब कामनाएँ छोड़ दी हैं और फिर स्पृहा भी छोड़ दी है" ऐसा कहने में पुनरुक्ति नहीं है। 'स्पृहा' के द्वारा यहाँ मूल 'अभिलाषा' अर्थात् जीने की अभिलाषा व्यक्त की गयी है। उसका विशेष उल्लेख ब्राह्मण-परिव्राजक-न्याय से किया गया है। यजमान ने ब्राह्मणों को निमंत्रण दिया। भोजन के समय पूछा, "सब ब्राह्मण आ गये न?" जवाब मिला—"हाँ, सब आ गये।" फिर पूछा—"वे संन्यासी भी?" जवाब—"हाँ, वे भी आ गये।" ब्राह्मणों में संन्यासी आ ही गये; परन्तु संन्यासियों का विशेष महत्त्व होने से स्वतन्त्र रूप से

**१४८. स्थितप्रज्ञ-लक्षणों का उपसंहार। स्थितप्रज्ञ को कोई कामना नहीं, जिजीविषा नहीं।**

पृच्छा की, अतः इसे ब्राह्मण-परिव्राजक-न्याय कहते हैं। इस न्याय से यह शब्द यहाँ आया है। यह कहते ही कि उसकी सब कामनाएँ छूट गयीं, पूछा—"सब कामनाएँ छूट गयी हैं तो जीवन-विषयक कामना भी छूट गयी न ?" उत्तर मिला—"हाँ।" विशेष रूप से उल्लेख करने का कारण यह कि अवान्तर सब कामनाएँ छोड़ देने पर भी जीने की वासना कायम रह सकती है। अतएव बताया कि 'वह उसे भी छोड़ चुका होता है।'

**१४६. मुमूर्षा भी नहीं, मरण की भीति भी नहीं**

'जीने की इच्छा छोड़ता है', इसका अर्थ क्या यह है कि मरने की इच्छा रखता है ? नहीं। जीने की इच्छा के साथ ही मरने की इच्छा भी छोड़ देता है, यह समझना चाहिए। तो कहते हैं—क्या मरने की भी इच्छा किसीको होती है ? इसका उत्तर यह है कि कभी-कभी होती है। हम मनुष्यों को आत्म-हत्या करते हुए देखते हैं। स्थितप्रज्ञ जीवन से ऊबा हुआ नहीं होता। जीने की इच्छा के साथ ही वह मरने की अभिलाषा भी छोड़ देता है; पर इसका अर्थ यह नहीं कि सारे जीवन ही के प्रति उसके मन में उदासीनता आ जाती है। प्रायः बूढ़े लोग कहते हैं, "अब हमें कितने दिन जीना है ? दस गये, पाँच रहे।" उनके जीवन का रस सूख जाता है, अतः वे उदासीन हो जाते हैं; परन्तु स्थितप्रज्ञ की स्थिति इससे विपरीत होती है। जीवन की अभिलाषा मिट जाने से मृत्यु का भय भी मिट जाता है। तब फिर जीवन में आनन्द और खेल बाकी रहता है। उसका जीवन लीलामय हो जाता है। आगे गीता में भक्तों के लक्षण बताते हुए दसवें अध्याय में कहा है, "**तुष्यन्ति च रमन्ति च**"। तब वे सन्तुष्ट होकर क्रीड़ा करते रहते हैं। तुकाराम कहते हैं—

**तुका ह्मणे मुक्ति परिणिली नोवरी।**
**आतां दीस चारी खेळी-मेळी॥**[1]

---

१. "मुक्तिरूपी वधू से विवाह हो गया है। अब चार दिन आनन्द-ही-आनन्द—खेल-कूद ही है।"

ऐसा उनका जीवन आनन्दमय होता है।

जीवन की अभिलाषा ही वास्तविक मरण की भीति है। एक ही वस्तु के ये दो पहलू हैं। लड़ाई पर जानेवाले सैनिक सदा हँसने-खेलने और खेल-तमाशे में मस्त रहते हैं। पास्कल कहता है—"इसका कारण यह है कि मरण उनकी आँखों के सामने प्रतिक्षण मौजूद रहता है। उसे भूलने के लिए वे आनन्द का यह आभास खड़ा करते हैं।" मन में जीवनाभिलाषा का, दूसरे शब्दों में, मरण-भय का काँटा चुभता रहता है। उसका दुःख भूलने के लिए हँस-खेलकर उन्मादावस्था लाने का प्रयत्न करते हैं। यों भी जीवन में ऐसा अनुभव आता है। खूब हँसने-खेलनेवाले लोग हम अक्सर देखते हैं। जब हम उनके निकट परिचय में आते हैं, तो मालूम होता है कि उनमें कितने ही भीतर से दुःखी होते हैं। दुःख के उस शूल को भूलने के लिए वे जान-बूझकर हास्य-विनोद का वातावरण खड़ा करना चाहते हैं। यह सारा उद्योग मन की ग्लानि को ढाँकने के लिए होता है। मनुष्य को सबसे ज्यादा चुभनेवाला शूल है जीवनाभिलाषा। मरने तक यह चुभता ही रहता है और मरने के बाद भी पीछा नहीं छोड़ता। अतएव उसका दुःख भूलने के लिए वह भिन्न-भिन्न उत्सव और समारोह के रूप में कृत्रिम वातावरण खड़ा करने की कोशिश करता है। परन्तु जिसने जीने की वासना ही छोड़ दी है, उसके सारे दुःख अपने-आप मिट जाते हैं। जीवन का काँटा ही चला गया! सारी चिन्ता मिट गयी, जीवन शुद्ध आनन्दमय हो गया।

**१५०. जीवन की अभिलाषा ही वास्तविक मरण की भीति। उसके जाते ही जीवन आनन्दमय हो जाता है**

छोटे बच्चों के जीवन में जो इतना आनन्द दिखाई देता है, उसका रहस्य भी यही है। उनको जीने की फिक्र नहीं रहती है। इसके मूल में उनका अज्ञान होता है; पर यह बात पक्की है कि उन्हें किसी बात की फिक्र नहीं होती। बच्चा खेलने में मग्न रहता है, उसे खाने-पीने का भी भान नहीं रहता। उसकी भूख-प्यास माँ

**१५१. 'चरति' पद के द्वारा यही सूचित किया गया है**

को लगती है; इस सबसे उसका कोई सरोकार ही नहीं। छोटे बच्चे की यह जो अज्ञानमूलक दशा है, वही स्थितप्रज्ञ की ज्ञानमूलक दशा होती है। वही यहाँ बतायी गयी है। 'चरति' शब्द की यही खूबी है। 'चरति' याने खेलता है, कूदता है, बिचरता है। उसके जीवन में दुःख रहता ही नहीं। प्रतिज्ञा का पुनरुच्चार निगमन में किया जाता है। 'प्रजहाति यदा कामान्' इत्यादि श्लोकों में की हुई प्रतिज्ञा का स्वरूप इकहरा नहीं है। मूल प्रतिज्ञा में इतना ही नहीं कहा है कि सब कामनाएँ छोड़ देता है, उसके साथ ही उसका दूसरा लक्षण भी बताया गया है—आत्मा में ही संतुष्ट रहता है। प्रतिज्ञा का यह उभयविध अर्थ निगमन में भी आना चाहिए। सारी कामनाएँ छोड़ने के बाद वह अपनी आत्मा के आनन्दरूपी स्रोत में मग्न हो जाता है, यह भाव यहाँ 'चरति' शब्द के द्वारा प्रदर्शित किया गया है। बाहर की वासनाएँ मिट गयीं। अब भीतर का केवल विशुद्ध आनन्द बाकी रह गया।

## २

'चरति' शब्द का इससे एक भिन्न अर्थ बताया गया है। तिलक महाराज ने 'गीता-रहस्य' में उसका विवरण किया है। पहले

**१५२. 'चरति' का अर्थ 'विषयान् चरति' नहीं**

एक श्लोक में 'विषयान् चरन्' ऐसे पद आये हैं। वे कहते हैं कि 'चरति' शब्द का यहाँ यही अर्थ करना चाहिए। उसके अनुसार 'चरति' का अर्थ है संयमपूर्वक इंद्रियों का युक्त व्यवहार करना। यह अर्थ भी अनुचित नहीं है; क्योंकि यह बात नहीं कि स्थित-प्रज्ञ इंद्रियों से कुछ काम ही नहीं लेगा। आँखों से देखना, कानों से सुनना आदि उसके लिए मना नहीं है। सेवा के लिए वह यह सब काम करेगा, परन्तु ऐसा अर्थ करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है; क्योंकि इस श्लोक में स्थित-प्रज्ञ की पूर्ण व्याख्या का निगमन है। अतः 'विषयान् चरन्' जैसा अर्थ यहाँ अपेक्षित नहीं है। फिर 'चरन्' वहाँ सकर्मक है, यहाँ 'चरति' अकर्मक है, और बिना कारण कर्म के अध्याहार की कल्पना करना उचित नहीं है।

दूसरा भी एक अर्थ स्मृति-वचनों के अनुसार किया जाता है। स्मृति का यह विधान है कि संन्यासी पुरुष सर्व-संग-परित्याग करके सदा विचरता रहे। उसका स्मरण 'चरति' शब्द से होता है, परन्तु स्थितप्रज्ञ के लिए कोई भी विधान करने की गीता की प्रवृत्ति नहीं। क्योंकि उसकी ऐसी स्थिति ही नहीं रह जाती कि उसके लिए कोई विधान किया जाय। स्मृतिवाला विधान तो आश्रम-संन्यास से सम्बन्ध रखता है, वह साधकावस्था को ध्यान में लेकर ही किया है। वह विधान इस प्रकार है—अनेक प्रकार का अनुभव प्राप्त कर चुके हुए साधक को अनासक्त रहना चाहिए, वह एक जगह रहकर आसक्ति में न पड़े, सतत फिरता रहे, इससे परिग्रह नहीं जमा हो पायेगा। परन्तु स्थितप्रज्ञ के लिए ऐसा विधान कौन करेगा? उसे ऐसे विधान की जरूरत भी क्या है! वह अपना विधान स्वयं ही जानता है। यदि यह मानें कि यह विधान नहीं वर्णन है, तो ज्ञानी पुरुष का स्थूल चरित्र वर्णन करने की प्रवृत्ति गीता में कहीं नहीं पायी जाती। ऐसे स्थूल चरित्र की कल्पना भी गीता ने नहीं की है। तो भी यदि 'चरति' शब्द से संन्यासाश्रम-सम्बन्धी स्मृति-वचन का स्मरण होता है, ऐसा कोई कहे और लिंग (चिह्न) के तौर पर उसका उपयोग करे तो हमें आपत्ति नहीं है। परन्तु उसका ऐसा शाब्दिक अर्थ हम यहाँ हरगिज नहीं होने देंगे।

**१५३. 'चरति' का अर्थ आश्रम संन्यास नहीं**

यहाँ की तरह आगे भक्ति के लक्षणों में 'अनिकेतः स्थिरमतिः' ऐसा एक लक्षण बताया गया है। इसका भी अक्षरार्थ ऐसा हो सकता है—'उसका कहीं भी घर नहीं होता।' अर्थात् वह 'सतत फिरता रहता है।' परन्तु इस अर्थ को पचाकर ज्ञानदेव ने उसमें से सरस निष्पत्ति की है—

**१५४. 'चरति' याने विहार करता है। ज्ञानदेव की भाषा में 'विचरे विश्व होउनी। विश्वामांजी'[1]**

---

१. 'विचर विश्व होकर। विश्वमध्य।'

"वायूसि एके ठाई। विढार जैसें नाहीं।
तैसा न धरी च कहीं। आश्रयो जो॥
हें विश्वचि माझें घर। ऐसी मति जयाची स्थिर।
किंबहुना चराचर। आपण जाला॥"

अर्थात्—"जैसे वायु का कहीं एक जगह डेरा नहीं होता, वैसे कहीं भी आश्रय लेकर नहीं रहता, जिसकी यह मति स्थिर हो कि सारा विश्व ही मेरा घर है, बल्कि जो खुद ही चराचर-रूप गया।" सारा विश्व ही उसका घर हो गया। वह बे-घर का रहा! ऐसी ही विचारशीलता ज्ञानदेव ने इस जगह भी अर्थ ने में दिखाई है। 'चरति' शब्द का अर्थ यहाँ उन्होंने किया है, वर विश्व होकर। विश्वमध्य।' अक्षरार्थ भी न छूटने पाये, का बोझ भी न पड़ने पाये—ऐसी कुशलता से भाष्य करने की ज्ञानदेव ने यहाँ दिखायी है। संस्कृत में ज्ञानी पुरुष के संचार लिए 'विहार' शब्द है। हमारे देश में भी पूर्व में एक विहार ो बिहार-प्रान्त है। किसी ज्ञानी पुरुष के विहार के स्मारक के में एक सारे प्रान्त ही का नाम बिहार रख देने का ऐसा उदा- ा बहुत कम मिलता है। बुद्ध के विहार की स्मृति के रूप में रे धर्म-प्राण पूर्वजों ने इस प्रान्त का नाम 'बिहार' रख दिया। ार' का अर्थ है सहज आनन्द से सैर करना, क्रीड़ा करना, ना, विचरना। यही अर्थ यहाँ 'चरति' शब्द के द्वारा अभिप्रेत समस्त कामनाओं का और जीवन-स्पृहा का भी निरास हो जाने ाद जीवन एक विहार अथवा क्रीड़ा ही बन जाता है।

परन्तु तब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जिसकी जीवनाभिलाषा बाकी नहीं रही और महज शरीर बच रहा तो उसके लिए काम क्या रहा? तत्त्वज्ञान में यह प्रश्न हमेशा खड़ा होता है। कि यह सिद्धांत है कि बिना कार्य के कोई भी वस्तु नहीं रह ी। उसका उत्तर तुकाराम ने दिया है—तुका म्हणे आतां।

उरलो उपकारा पुरता ।[1] स्थितप्रज्ञ की स्थिति ऐसी होती है कि वह विश्वमय हो जाता है; 'मैं' और 'मेरा' यह भाषा ही वहाँ नहीं रहती । वह लोगों से कहता है—"अब न मैं हूँ, न मेरा है; जो कुछ है सो तुम और तुम्हारा । तुम अपना सँभालो", यही अर्थ अगले चरण में समाविष्ट है—'निर्ममो निरहंकारः ।' वह सब भूतों पर उपकार करने के लिए ही जीता है; परन्तु उसके शरीर के लिए सामाजिक काम रहा हो तो भी उसकी कोई सामाजिक कामना नहीं रहती । इसका यह अर्थ न समझ लेना चाहिए कि उसकी व्यक्तिगत कामना मिटकर सामाजिक कामना बाकी रहती है । 'सर्व कामना' में सामाजिक कामनाएँ भी आ गयीं । उन्हें भी वह छोड़ देता है । तो फिर उससे सामाजिक कार्य कैसे होते हैं ? वे उसकी साधकावस्था और सामाजिक आवश्यकता के प्रवाह से उसके द्वारा होते हैं । साधकावस्था की प्रेरणाएँ उसके स्वभाव में घुल-मिलकर उसके अंग-रूप बन जाती हैं और दूसरी तरफ समाज की आवश्यकता का प्रवाह तो सतत बहता ही रहता है । ये उससे काम करवा लेते हैं । इस तरह वह महज प्रवाह-पतित होता है । जिसकी ऐसी स्थिति हो, उसे शान्ति प्राप्त हो, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है । शान्ति पर अधिकार उसीका है; क्योंकि अशान्ति के सब कारण उसके जीवन से उड़ गये हैं । अहन्ता-ममता गयी, शुभाशुभ-कामना गयी, जीवन-स्पृहा गयी, अब अशान्ति किस बात से रहे ? अब तो शान्ति-ही-शान्ति बाकी रह गयी ।

**१५५. कामना और जीवना-मिलाषा छूटने पर अब शरीर बाकी रहा, सो केवल उपकारार्थ । 'निर्ममो निरहंकारः' पद से यही भाव सूचित किया है ।**

३

पिछले श्लोक में स्थितप्रज्ञ की भावावस्था का वर्णन किया गया ।

---

१. तुकाराम कहते हैं कि अब मैं उपकार के लिए ही रह गया हूँ ।

यहाँ ज्ञानावस्था बतायी गयी है। यह मानो उस भावावस्था के वर्णन से बिलकुल विपरीत दिखाई देती है। वहाँ शुभ और अशुभ सभी कामनाओं का प्रवेश है, यहाँ दोनों के लिए दरवाजा बन्द है। ज्ञानावस्था में स्थितप्रज्ञ शुभ-अशुभ दोनों के परे चला जाता है। वहाँ कोई द्वंद्व बाकी नहीं रहता। वहाँ न सृष्टि है, न दृष्टि। न ब्रह्मांड है, न पिंड। न यह है, न वह। न नाम, न रूप। न गुण, न कर्म। न जाति, न व्यक्ति। न सामान्य, न विशेष। न इन्द्रियाँ, न मन। न बुद्धि, न अहंकार। तो फिर है क्या? यह कहने का साधन नहीं; क्योंकि वहाँ वाणी ही खतम हो जाती है। जहाँ वाणी शेष रहती है वहाँ वह अवस्था नहीं। यह कहें कि वहाँ स्वानुभूति है तो यह भी अपूर्ण ही होगा। उसे शून्य भी नहीं कह सकते; अशून्य भी वह नहीं; परन्तु इतना तो निश्चित है कि कुछ है सही। वहाँ भावावस्था का भाव खतम हो जाता है। क्रियावस्था की क्रिया लुप्त हो जाती है। इससे अधिक उस अवस्था का वर्णन करना अनावश्यक है; क्योंकि इतने वर्णन से भी उस पर कोई प्रकाश नहीं पड़ा।

**१५६. पूर्वोक्त भावावस्था और क्रियावस्था से भिन्न स्थितप्रज्ञ की यह ज्ञानावस्था बिलकुल अवर्णनीय**

परन्तु भावावस्था में स्थितप्रज्ञ की भूमिका सम्पूर्ण विश्व-रूप भगवान् को मान्य करने की होती है। उस समय उसकी भावना में समग्रता होती है। वहाँ विश्लेषण नहीं। किसी सुन्दर मूर्ति की नाक काटकर कोई ले आये और पूछने लगे कि यह सुन्दर है, तो मैं कहूँगा कि सारी मूर्ति सुन्दर थी। उसके टुकड़े कर देने से टुकड़ों में सुन्दरता नहीं रहेगी, समग्रता में सुन्दरता है। यह सारा विश्व शुभ और अशुभ मिलाकर मंगलरूप है। विश्वरूप में मिलकर लीन होने की, विश्वरूप का आदर करने की, पूजने की, उसे सारा-का-सारा निगल जाने की यह भूमिका है। 'पूजकर देव देखो।'—मूर्ति की पूजा करके फिर उसे देखोगे, तो वह सुन्दर दिखाई देगी। 'बीज बो खेत देखो'—

**१५७. भावावस्था में समग्रता है**

बिना बोये खेत पर जाओगे तो वहाँ घास-ही-घास दिखाई देगी। अपनी पवित्र भावना की चादर ओढ़कर फिर संसार की ओर देखो, तो वह परम पवित्र दिखाई देगा। माँ अपने बच्चे को प्रेम से सजाती है, गहने-कपड़े पहनाती है। अतः वह उसको सुन्दर दिखाई देता है। इस तरह आत्म-भावना से विश्व को सजाओ, चमकाओ, मंडित करो, आच्छादित करो और फिर देखो। आत्मीयता के कारण वह सुन्दर और प्रिय दिखाई देगा।

इन दोनों से भिन्न विवेक-प्रधान क्रियावस्था 'या निशा सर्व-भूतानाम्' श्लोक में बतायी गयी है, वह हमने देख ही ली है। वहाँ

**१५८. क्रियावस्था में विवेक है**

शुभ बनाम अशुभ है। निष्कामता बनाम सकामता, अकर्तृत्व बनाम कर्तृत्व, संयम बनाम स्वच्छन्दता, सत् बनाम असत्, प्रकाश बनाम अन्धकार, ऐसा वहाँ झगड़ा है।

ज्ञानी पुरुष को शरीर की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न समयों में ये तीन अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं। उसकी वृत्ति की अखंडता को बाधा

**१५९. तीनों अवस्थाएँ मिलाकर स्थितप्रज्ञ की एक ही अखंड वृत्ति**

पहुँचाये बिना ये आती हैं और जाती हैं। वास्तव में यह भाषा ही ठीक नहीं है कि उसमें 'वृत्ति' रहती है। उसमें सचमुच कोई 'वृत्ति' नहीं रहती।

"करणें कां न करणें। हें आघवे तो चि जाण।
विश्व चळतसे जेणें। परमात्मेनि॥"[1]

ऐसी उसकी स्थिति होती है। भगवान् को उससे जो काम कराना मंजूर होता है, समाज को जैसी आवश्यकता होती है, वैसा काम उससे हो जाता है। वह स्वयं-प्रवृत्ति से कुछ भी नहीं करता।

---

१. "जिस परमात्मा से यह विश्व संचालित होता है, वही अकेला जानता है कि क्या करें क्या न करें।"

पानी उधर जाता है, जिधर माली उसे ले जाता है। यदि गन्ने की तरफ ले गया तो वह उसकी मिठास बढ़ा देता है, राई की तरफ ले गया तो उसकी तेजी बढ़ा देगा। प्याज की क्यारी में ले गया तो उसकी गन्ध बढ़ा देगा।[1] पानी खुद अपना कोई अभिमान नहीं रखता। स्थितप्रज्ञ का ऐसा आग्रह नहीं होता कि अमुक करूँगा, अमुक नहीं करूँगा; अथवा कुछ-न-कुछ तो करूँगा ही या कुछ भी नहीं करूँगा। ईश्वर को उससे जो कुछ कराना मंजूर होगा, वह करा लेगा। उसकी अपनी कोई प्रवृत्ति बाकी नहीं रही; अतः उसकी स्थिति के लिए निवृत्ति शब्द ही ठीक है; परन्तु यदि 'वृत्ति' शब्द का ही आग्रह हो तो उसे 'अखंड वृत्ति' कहिये। शरीर की दृष्टि से क्रियावस्था, भावावस्था और ज्ञानावस्था उसे प्राप्त होती है, परन्तु इन तीनों भूमिकाओं में विरोध नहीं है। इस कारण उसकी अखंड वृत्ति में अन्तर नहीं आता। क्रिया के समय वह सज्जन और दुर्जन का विवेक रखेगा। भावावस्था में सबका संग्रह करेगा। ज्ञानावस्था में कहेगा—मेरा कोई नहीं। इस तरह उसकी तीन भूमिकाएँ होती हैं। इन तीन भूमिकाओं को मैं स्थितप्रज्ञ की त्रिसूत्री कहता हूँ। इस त्रिसूत्री का आधारभूत जो महान् प्रमेय है, उसकी चर्चा आगे करेंगे।

---

१. मोहरी, कांदा, ऊस। एक वाफा भिन्न रस। उदका नेलें तिकडे जावें।

# सोलहवाँ व्याख्यान

## १

स्थितप्रज्ञ की जो अवस्था हमने देखी, उसे स्थूल अर्थ में ईश्वर की ही समझना चाहिए। उसकी जो तिहरी अवस्था होती है, उसका कारण भी यही है कि ईश्वर का स्वरूप त्रिविध है। स्थितप्रज्ञ की भूमिका की वही आधारभूत नींव है। ईश्वर को किसीने देखा नहीं—और ऐसे ही मनुष्य को भी किसीने नहीं देखा। मनुष्य का वाह्य रूप प्रकट है। वैसे ही ईश्वर का भी वाह्य रूप प्रकट है। मनुष्य का अन्त:स्वरूप ईश्वर के अन्त:स्वरूप की तरह ही अप्रकट है। मनुष्य का प्रकट रूप छोटा-सा है, इसलिए वह ज्ञात-सा प्रतीत होता है; किंतु ईश्वर का तो प्रकट रूप यह अपरम्पार सृष्टि ही है। अत: वह अज्ञात-सा प्रतीत होता है। वास्तव में मनुष्य और ईश्वर दोनों एक-से ही प्रकट या अप्रकट है; परन्तु जैसे—मनुष्य को जानने का साधन है, वैसे ही ईश्वर को भी जानने का साधन हमें उपलव्ध है। वह साधन है स्थितप्रज्ञ। जव तक ऐसे स्थितप्रज्ञ सव जगह, सव समय, मिलते हैं तव तक यह कहना अनुचित न होगा कि ईश्वर को जानने का साधन हमारे पास है। अत: स्थितप्रज्ञ को मूर्तिमान् और एक छोटा-सा ईश्वर ही मान सकते हैं। स्थितप्रज्ञ की तीन भूमिकाएँ ईश्वर के तीन स्वरूपों के अनुसार हैं। इन तीन रूपों को मिलाकर उसका परिपूर्ण स्वरूप वनता है। जितना कुछ हमारी कल्पना में आता है और जो नहीं आ सकता, वह सव उसके उदर में समा जाता है।

१६०. स्थितप्रज्ञ की तिहरी अवस्था के मूल में ईश्वर का त्रिविध स्वरूप

ईश्वर का पहला रूप केवल शुभ है। वह मनुष्य की आकांक्षा में

दिखाई देता है। मनुष्य में सदा शुभ की आकांक्षा रहती है। अशुभ करनेवाले की आकांक्षा भी शुभ की ही होती है। असत्यवादी भी नहीं चाहता कि कोई उसे धोखा दे। हिंसक मनुष्य भी नहीं चाहता कि कोई उसे मार डाले। मनुष्य-हृदय की इस शुभ-विषयक आकांक्षा में से ही नीति-शास्त्र का जन्म हुआ है। हो सकता है कि 'शुभ क्या है' इसका निर्णय कभी-कभी कठिन मालूम हो; परन्तु शुभ जैसी वस्तु है अवश्य और वही मनुष्य को प्रिय है। दैवी सम्पत्ति-सम्बन्धी सद्‌गुण बताकर भगवान् ने अर्जुन से जो कहा है कि 'तेरा जन्म दैवी सम्पत्ति ही में हुआ है' सो यह आश्वासन केवल अर्जुन को ही नहीं, बल्कि सारी मनुष्य-जाति को दिया हुआ है। यह सच है कि मनुष्य में दोष भी दिखाई देते हैं; परन्तु वह तो मानव के अन्दर का पशुत्व है, मानवत्व नहीं। मानवत्व शुभ है, शुभाकांक्षी है, शुभ की ओर अग्रसर है। उसका हृदय-स्थान शुभ का बना है। 'हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' यही है।

**१६१. ईश्वर का पहला रूप केवल शुभ**

ईश्वर का दूसरा रूप यह विश्व-रूप है। वह परिपूर्ण है। उसमें शुभाशुभ सब कुछ आ जाता है। सन्तरे के फल में बीज, खूजा, छिलका सब कुछ आ जाता है। मीठा, खट्टा, कसैला—तीनों रस आ जाते हैं। यह सब मिलकर सन्तरा बना है। इन सबको मिलाकर हमसे पूछें कि सन्तरा कैसा है तो हम कहेंगे 'बढ़िया, मीठा, स्वादिष्ट।' बीज, खूजा या छिलके का खानेवाले के लिए कोई महत्त्व नहीं। तो भी ये सब फल के रस के पोषक हैं। मनुष्य की दृष्टि से ये सब गौण हो सकते हैं; परन्तु उनसे सन्तरे में वैगुण्य नहीं आता। 'मनुष्य की दृष्टि से' इसलिए कहा कि फल की परिभाषा में बीज ही मुख्य कहा जायगा। परन्तु दृष्टान्त में केवल सार ही ग्रहण करना चाहिए। कुल मिलाकर जगत् शुभ है; सन्तरे की तरह मधुर है। उसमें जो अशुभ प्रतीत होता है वह शुभ की शोभा

**१६२. दूसरा, विश्व-रूप**

बढ़ानेवाला है। यह शुभ की छाया-रूप है। उस सबको मिलाकर यह सारा विश्व-रूप सुसज्जित है। कभी उससे भय मालूम होता है तो कभी उसके प्रति आकर्षण। ग्यारहवें अध्याय में वर्णन है कि अर्जुन को उससे भय मालूम हुआ। भागवत में कहा है कि प्रह्लाद को उसे देखकर प्रेम और भक्ति उमड़ी। वह समुद्र और हिमालय की तरह रमणीय-भयानक है, आकर्षक है और विकर्षक भी। इसीलिए शिव के द्विविध स्वरूप का वर्णन किया जाता है—'मंगल और घोर', 'सौम्य और रुद्र' दोनों प्रकार के शिवरूप हैं; परन्तु दोनों को मिलाकर वह है तो शिव ही।

ईश्वर का तीसरा रूप शुभाशुभ से परे है। सृष्टि से परे, बुद्धि से परे और आकांक्षाओं से परे; परन्तु वह सबके परे होते हुए भी सबके लिए आधार-रूप है। उसका वर्णन ही नहीं किया जा सकता। वह शुभ भी नहीं, अशुभ भी नहीं, ऐसा नकारात्मक वर्णन ही उसका किया जा सकता है—हंकारसूचक भाषा में इतना ही कहा जा सकता है कि वह है। बाकी सब नेति-नेति! वेदान्त में उसे 'ब्रह्म' संज्ञा दी है।

**१६३. तीसरा, शुभाशुभ से परे ब्रह्म-संज्ञित**

गीता में ईश्वर का यह तिहरा रूप भिन्न-भिन्न स्थानों में बताया गया है। इसमें पहला 'मानवीय आकांक्षाओं का रूप है' जो केवल शुभ है। भक्तों ने इसे चतुर्भुज रूप का माना है। यह रूप मानवीय आकांक्षाओं के अनुरूप है, अतः वास्तव में मानवीय है। परन्तु मानव के प्रत्यक्ष जीवन में वह पूर्णतया प्रकट नहीं होता, अतः उसमें दो हाथ और जोड़कर चतुर्भुज बनाया। परमेश्वर के खालिस, शुद्ध, शुभ, मंगल रूप को अपने हृदय में अनुभव करना चतुर्भुज-रूप का दर्शन करना है। गीता में इसे 'सत्' कहा है। 'ॐ तत्सत्' में जो सत् है, सो यही। उसका चित्र चतुर्भुज है, चरित्र नीतियुक्त है, नाम सत् है

**१६४. गीता की परिभाषा में 'सत्' 'सदसत्' 'न सत् नासत्'**

दूसरा है विश्व-रूप, जो ग्यारहवें अध्याय में मिलता है। उसमें शुभाशुभ का समावेश होता है। समग्रता और परिपूर्णता उस स्वरूप की विशेषता है। गीता में इसका शास्त्रीय नाम 'सदसत्' है। 'सदसच्चाहमर्जुन' इस वचन में इसी विश्व-रूप का वर्णन है। तीसरा रूप गुणातीत है। उसमें न आकार है, न विकार, न प्रकार; परन्तु वह सर्वाधार है। गीता ने उसका शास्त्रीय नाम 'न सत् तन् नासद् ( उच्यते )' रखा है। तेरहवें से लेकर पंद्रहवें अध्याय तक गीता में उसका विस्तार किया गया है।

इस तरह ईश्वर के तीन रूप और उनके अनुसार स्थितप्रज्ञ की तीन अवस्थाएँ होती हैं। तर्क द्वारा विचार करने से सदसत् की कुल चार कोटियाँ सम्भव हैं—( १ ) केवल सत्, ( २ ) केवल असत्, ( ३ ) सदसत्, ( ४ ) न सत् नासत्। परंतु तर्क से यद्यपि चार कोटियाँ होती हैं, तो भी इनमें तीन ही ईश्वर पर घटित होने-जैसी हैं। केवल 'असत्' कोटि ईश्वर पर चरितार्थ नहीं होती, वह शैतान पर लागू होती है। ईश्वर का चौथा स्वरूप नहीं है। अतः स्थितप्रज्ञ की भी चौथी अवस्था नहीं है।

**१६५. तर्क से सदसत् की चार कोटियाँ हो सकती हैं। इसमें तीन ही ईश्वर पर चरितार्थ होती हैं**

## २

इसी अर्थ को सूचित करनेवाला एक श्लोक नवें अध्याय में आया है। 'सूचित करनेवाला' मैंने जान-बूझकर कहा है; क्योंकि उसका अर्थ सरल नहीं है। महाभारत में व्यासजी के जो खास श्लोक हैं उनमें वह एक है। तो भी भाष्यकारों ने अपने-अपने ढंग से उसका अर्थ खोला है। मेरी दृष्टि से उसमें से वही आशय निकलता है, जिसका हम यहाँ विवेचन कर रहे हैं—

**१६६. ईश्वर का और तदनुसार स्थितप्रज्ञ के जीवन का यह त्रिविध स्वरूप 'ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये' श्लोक में सूचित है**

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतो मुखम् ॥

गीता : ९.१५

यह है वह श्लोक । इसका शाब्दिक अर्थ है—"ज्ञान-यज्ञ के द्वारा यजन करनेवाले एकत्व से, पृथक्त्व से और बहुरूप से मेरे व्यापक स्वरूप का यजन करते हैं।" एकत्व से, पृथक्त्व से और बहुधा यजन करनेवाले—ये तीन अलग-अलग ज्ञानी नहीं हैं, बल्कि एक ही ज्ञानी तीन भूमिकाओं से तीन प्रकार की उपासना करता है। 'न सत् तन् नासद् उच्यते' ऐसे निर्गुण ब्रह्मत्व का अद्वैतमय अनुभव यानी एकत्व से यजन। 'ईश्वर केवल सत् है, असत् नहीं' ऐसी भूमिका से उपासना पृथक्त्व से किया गया यजन है। और 'सत्-असत् मिलाकर सारा जीवन एक है' ऐसी भूमिका से की गयी उपासना बहुधा यजन है।

ये तीनों भूमिकाएँ एक ही ज्ञानी पुरुष की होती हैं। क्रियावस्था में वह ईश्वर को केवल सत्-स्वरूप देखता है। उस समय उसकी पृथक्त्व की, अर्थात् विवेक की, भूमिका रहती है। 'पृथक्त्वेन' का अर्थ कुछ लोग करते हैं, ईश्वर में और अपने में भिन्नता मानकर भेद-भूमिका से की गयी उपासना। परन्तु वह ठीक नहीं है; क्योंकि यहाँ सामान्य भक्ति का वर्णन न होकर ज्ञान-यज्ञ का वर्णन है। भक्ति का वर्णन इसके पहले ही 'सततं कीर्तयन्तो माम्' इस श्लोक में हो चुका है। उसमें जितना चाहिए द्वैत मान लेने की भरपूर सुविधा है; किन्तु यहाँ द्वैत-भक्ति की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि यह ज्ञान-यज्ञ है। यहाँ पृथक्त्व से उपासना का 'सदसद् विवेक' ही अर्थ करना उचित है। बहुधा का अर्थ है, शुभ और अशुभ स्वरूप में अनन्त रूपों से ईश्वर सुसज्जित है, ऐसी भूमिका की उपासना। यह स्थितप्रज्ञ की भावावस्था की उपासना है। इसमें उसकी सबके प्रति अविरोध-वृत्ति सूचित की

**१६७. इसीका और अधिक स्पष्टीकरण**

गयी है। इस श्लोक का ऐसा अर्थ करना गीता में वर्णित ईश्वर के त्रिविध स्वरूप से मेल खाता है।

सभी स्थितप्रज्ञों के जीवन में ये तीनों भूमिकाएँ रहती हैं; परन्तु उनमें भी किसीके जीवन में क्रियावस्था प्रधान रहती है, तो किसीके भावावस्था और किसीके ज्ञानावस्था। उसके अनुसार उनके बाह्य जीवनाकार में भी अंतर दिखाई देगा। परन्तु किसी भी स्थितप्रज्ञ को इनमें से सिर्फ एक ही भूमिका का नहीं, बल्कि तीनों का अनुभव रहता है और तीनों अवस्थाओं में जो सर्व-सामान्य अखण्ड अनुभव होता है, वह भी एक ही है। तो भी प्रधानता के कारण बाह्य जीवन में फर्क होता है। इससे लोगों को भिन्न-भिन्न ज्ञानियों में तुलना करने का भी मोह हो जाता है और अपनी-अपनी रुचि के अनुसार कोई किसीको श्रेष्ठ भी कह लेता है। परन्तु वास्तव में यह मोह ही है। बाहरी आकार कुछ भी हो तो भी जब तक भीतरी प्रकार एक ही है तब तक वास्तव में कोई अन्तर नहीं होता। पाँच रुपये का नोट हो तो क्या और पाँच रुपये के सिक्के हुए तो क्या, कीमत दोनों की बराबर ही है, फर्क सिर्फ आकार का रहा। परन्तु किसी भी भूमिका का प्राधान्य हो, स्थितप्रज्ञ से जो लोकसंग्रह होता है वह समान ही रहेगा। लोकसंग्रह उसके आत्मज्ञान से ही होता है। प्रधानता किसी भी अवस्था की हो, तो भी उस आत्म-ज्ञान में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

**१६८. बाह्य जीवनाकार में भेद दिखाई देने पर भी सभी स्थितप्रज्ञों को तीनों अवस्थाओं का अनुभव होता है**

३

यहाँ एक प्रश्न और रह जाता है। स्थितप्रज्ञ की इन तीनों अवस्थाओं का कहीं योग भी है या नहीं? जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति–मनुष्य की ये तीन अवस्थाएँ जैसे एक-दूसरी से बिलकुल अलग हैं, वैसी ही क्या ये अवस्थाएँ

**१६९. ये अवस्थाएँ परस्पर-सम्बद्ध परस्पर-उपकारक ही हैं**

बिलकुल भिन्न-भिन्न हैं? मनुष्य जब नींद लेता है तो जागृति नहीं रहती और जागृति में नींद नहीं होती और स्वप्न में दोनों नहीं रहतीं। वैसी ही स्थिति क्या स्थितप्रज्ञ की क्रियावस्था, भावावस्था और ज्ञानावस्था की है, या इनमें कोई परस्पर-सम्बन्ध भी है? इसका उत्तर यह है कि जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति का उदाहरण यहाँ लागू नहीं होता; क्योंकि जागृति इत्यादि तो सामान्य मनुष्य की तरह ज्ञानी को भी होती है, परन्तु जिन तीन अवस्थाओं की हम यहाँ चर्चा कर रहे हैं वे तो ज्ञानी पुरुष की जागृति-काल की हैं। सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो निद्रादि-अवस्थाएँ भी बिलकुल असम्बद्ध नहीं हैं। नींद का जागृति पर और जागृति का नींद पर काफी परिणाम होता है। यदि नींद अच्छी आयी हो तो जागृति भी अच्छी रहेगी और जागृति में यदि डटकर काम किया हो तो नींद भी अच्छी आती है। इसी तरह स्वप्न का भी जागृति पर और जागृति का स्वप्न पर परिणाम हुए बिना नहीं रहता। और ज्ञानी पुरुष की तो जागृति-काल की ही ये तीन अवस्थाएँ हैं। अतः इन तीनों का प्रभाव एक-दूसरी पर पड़ना ही चाहिए। यह असंभव है कि एक अवस्था में रहते हुए वह दूसरी अवस्थाओं की भूमिका से बिलकुल अछूता बना रहे।

**१७०. इस विषय में सनातनियों की तर्क-प्रणाली भ्रमपूर्ण है**

यह चर्चा यहाँ इसलिए छेड़ी कि "ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता, चाण्डाल—ये सब पण्डित की दृष्टि में एक-से होते हैं।" इस गीता-वचन पर कुछ वेदान्ती कहते हैं कि "यह वाक्य भावावस्था का है। यह क्रियावस्था पर लागू नहीं होता। भावावस्था में सबको एक-सा मानने पर भी क्रियावस्था में विवेक रखना ही पड़ता है। इस स्थूल विवेक के आश्रय से गाय के साथ गाय की तरह और मनुष्य के साथ मनुष्य की तरह व्यवहार करना पड़ता है। स्थितप्रज्ञ पागल तो है नहीं। भावावस्था के अद्वैत के आधार पर क्रियावस्था का भेद न मानना मानो बड़ की छाल पीपल पर चिपकाने-जैसा है।" इस तर्क-प्रणाली

का आधार लेकर सनातनी कहते हैं—"आप जो यह समझते हैं कि हम ब्राह्मण और हरिजन में भेद-भाव करते हैं सो बात नहीं। वह भेद नहीं, विवेक है। अभेद का विरोध भेद से हो सकता है, विवेक से नहीं हो सकता।" उनका यह कथन विचारणीय है। यह कहना तो युक्तियुक्त है कि एक विशेष भूमिका में एक विशेष अवस्था रहेगी। परन्तु इसमें जो यह माना गया है कि इन अवस्थाओं में परस्पर सम्बन्ध नहीं है, सो ठीक नहीं है। भावना का प्रभाव क्रिया पर, क्रिया का भावना पर और ज्ञान का दोनों पर अवश्य होता है। ज्ञान और भाव अकिंचित्कर—न कुछ—नहीं है। वे ऐसी दियासलाई की डिबिया की तरह नहीं कि जब चाहा जेब में रख लिया और जब चाहा सुलगा लिया। वे जीवन में घुले-मिले होते हैं।

**१७१. क्रियावस्था पर भावावस्था का प्रभाव : सोने की अँगूठी और सभा के अध्यक्ष का दृष्टान्त**

उदाहरण के लिए पहले हम क्रियावस्था और भावावस्था की तुलना करेंगे। विचार करने पर ऐसा दिखाई देगा कि क्रियावस्था पर भी, उस भूमिका के विवेक की रक्षा करते हुए भावावस्था का प्रभाव पड़ना ही चाहिए। मुझे सोना अँगुलियों में पहनना है तो चाहे जिस आकार का सोना नहीं चलेगा। वह अँगूठी के आकार का ही होना चाहिए। वैसे आकार का न होगा तो मेरा काम नहीं चलेगा। अतः मैं उसे न लूँगा। परन्तु उसका आकार भिन्न है, इसलिए मैं उसे फेंक भी नहीं दूँगा। क्योंकि मैं सोने की कीमत जानता हूँ। भावावस्था में मुझे यह दर्शन हुआ है। यह सारा शुभ-अशुभ जगत् ब्रह्मस्वरूप है, खालिस सोना है। सज्जनों की एक सभा के लिए सभापति की जरूरत है तो उस समय स्थितप्रज्ञ किसी साधु पुरुष को ही उस पद के लिए चुनेगा। दुर्जन को तो नहीं पसंद कर लेगा! परन्तु ऐसा करते हुए वह दुर्जन के प्रति तिरस्कार-भाव नहीं रखेगा। दुर्जन भी तो एक आकार में परमेश्वर ही है। सज्जन दूसरे आकार में परमेश्वर है। सज्जनों की सभा के

लिए सज्जनों के आकारवाला ही परमेश्वर उचित है, इसलिए उसे चुना। इतना ही क्रियावस्था में ज्ञानी पुरुष इस तरह बरतता है तो इसका अर्थ यह नहीं कि वह भेद-भाव रखता है। भीतरी एकता को पहचानकर वह बाहरी व्यवहार में विवेक से काम लेता है। बाह्य व्यवहार के आकार में फर्क करते हुए वह इतनी चिन्ता रखता है कि भीतरी अभेद-भाव सुरक्षित रहे। वह समदृष्टि से देखता है, इसका अर्थ यह नहीं कि वह प्लेग और क्षय दोनों में एक ही दवा देगा। क्रियावस्था में उसे आकार देखकर चलना पड़ता है; परन्तु भावावस्था का अनुभव उसे बताता है कि विवेक से काम लेते हुए भी यह भूलना नहीं है कि यह सब कुछ ब्रह्म-रूप है। किसीका भी अनादर करना ठीक नहीं। सबके प्रति आदर-भाव रखो।

**१७२. भावावस्था पर क्रियावस्था का प्रभाव : कुष्ठ-रोगी-सेवा का दृष्टान्त**

एक अवस्था का अनुभव और ज्ञान दूसरी अवस्था में भूल नहीं सकता। व्यवहार में भी हम ऐसा ही देखते हैं। मनुष्य बिलकुल ऐकान्तिक भूमिका में नहीं रह सकता। एक विनोदी मित्र एक मजेदार बात सुनाया करते हैं। गणित के एक प्रोफेसर घूमने निकले। रास्ते में एक शख्स ने पूछा कि स्टेशन कहाँ है? प्रोफेसर महाशय ने उत्तर दिया कि भूगोल मेरा विषय नहीं है। प्रोफेसर साहब का खयाल था कि गणित के प्रोफेसर से भूगोल के ज्ञान का क्या वास्ता! यह सच है कि भावावस्था की सब भावनाएँ क्रियावस्था पर लागू नहीं होतीं, तो भी क्रियावस्था में भावावस्था के तत्त्व की विस्मृति नहीं हो सकती; बल्कि जिसमें भावावस्था की भूमिका प्रधान होगी वह भी क्रियावस्था के विवेक की उपेक्षा नहीं करेगा। यह नमक है, यह शक्कर है, यह लाल या पीला रंग है, या वह वस्तु चौकोर, गोल, आदि है—इन बातों का ज्ञान उसे रहता ही है। कल को यदि यह सिद्ध हो जाय कि किसी बाह्य कारण से व्यक्तिगत अथवा सामाजिक स्वास्थ्य के लिए किसी व्यक्ति को जैसे किसी कुष्ठरोगी को न छूना इष्ट है तो

वह भी अपनी क्रियावस्था में ऐसा करेगा। वह खुद इस महारोगी की सेवा करेगा। खुद अपने को खतरे में डाल देगा, परन्तु इस बात की सावधानी अवश्य रखेगा कि खुद उसे यह बीमारी न लग जाय। उसका आशय यह नहीं है कि वह बीमारी खुद उसे लग जाय, बल्कि यह है कि कुष्ठरोगी का रोग दूर हो। इतना खतरा उसने मोल ले लिया कि बीमारी लगना ही हो तो मुझे लगे। पर दूसरों को न लग जाय, इसीलिए वह रोगी को समाज से दूर रखेगा और जरूरत पड़ने पर स्वयं भी दूर रहेगा। परन्तु इस नियम में रोगी के प्रति आस्था, अनुकम्पा और आदर-भाव रहेगा। वह इस भाव को नहीं भूलेगा कि कुष्ठ-रोगी भी ईश्वर-रूप है, परन्तु समाज के बचाव के लिए वह सावधानी रखेगा, यह उसका विवेक हुआ। परन्तु यदि वह कुष्ठ-रोगियों को अपवित्र समझकर उन्हें दूर रखने लगे, उनकी सेवा की उपेक्षा करने लगे, उनका तिरस्कार करने लगे तो उसकी ईश्वर को सर्वत्र देखने की भावना बिलकुल खतम हो जायगी। फिर उसकी स्थितप्रज्ञावस्था का मतलब ही क्या रहा? 'सब कुछ एक ही है' यह भावावस्था है, क्रियावस्था नहीं—सनातनी लोगों का यह कहना सत्य है; परन्तु उनका यह खयाल गलत है कि ये अवस्थाएँ एक-दूसरे से अत्यन्त भिन्न हैं। वे एक ही निष्ठा के विभिन्न प्रकार हैं। इस तरह विचार करने पर सनातनियों के कथन का सार भी दिखाई दे जायगा और असार भी मालूम हो जायगा।

# सत्रहवाँ व्याख्यान

## १

स्थितप्रज्ञ की तिहरी अवस्था का विवरण हम कर रहे हैं। ज्ञान, भाव और क्रिया—ये तीन अवस्थाएँ भले ही आक्रमणकारी न हों तो भी अनुग्रहकारी अवश्य हैं। अर्थात् वे एक-दूसरे के सिर पर नहीं चढ़ बैठतीं, तो भी परस्पर प्रभाव डाले विना नहीं रहतीं। इन्द्र-धनुष के भिन्न-भिन्न रंग अपने-अपने तौर पर भिन्न दीखते हैं तो भी उनकी छटा एक-दूसरे पर झलकती है और उन सबका मिलकर इन्द्रधनुष बनता है। उसी तरह ये तीन अवस्थाएँ मिलकर ज्ञानी पुरुष का जीवन बनता है। उदाहरण के लिए भाव बनाम क्रिया-जैसी स्थिति हो तो क्या होगा, इसका हमने विचार किया। क्रियावस्था पर यदि भावावस्था का अनुग्रह न रहा तो विवेक की परिणति भेद में होने की संभावना है। जैसे सनातनियों की हरिजनों के खिलाफ दलील ( तर्क-प्रणाली )। वस्तुतः यह दलील व्यर्थ है, क्योंकि वहाँ जिसे विवेक कहा गया है वह विवेक नहीं, केवल भेद ही है। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को जन्मतः अस्पृश्य माने, इसमें क्या विवेक हो सकता है! वह तो परंपरागत मूढ़ भेद ही साबित होता है। विवेक और भेद, ये दोनों बिलकुल भिन्न-भिन्न भूमिका पर आधारित हैं। खाद्य और अखाद्य के विचार को विवेक कह सकते हैं। विवेक के उदाहरण के तौर पर हमने कुष्ठ-रोगी की मिसाल ली थी। कुष्ठ-रोगी को हम दूर तो रखेंगे परन्तु उसमें उसके प्रति सहानुभूति, सेवा-भाव और समादर रहना चाहिए। अलग रखना यदि प्रेमभाव-प्रेरित होगा तो वह विवेक होगा, नहीं तो वह भेद ही है। दूसरा उदाहरण न्यायाधीश का ले सकते हैं। न्याय करते हुए न्यायान्याय-विवेक तो करना ही चाहिए, नहीं तो न्याय का कोई मतलब ही नहीं रह जाता। परन्तु उस क्रिया पर सर्वात्मभाव की मुहर लगनी चाहिए। सीधी-

१७२. भाव द्वारा क्रिया का नियमन होता है, इसका अधिक विवरण

सादी भाषा में कहें तो न्याय में दया का मिश्रण चाहिए। तभी वह समुचित न्याय होगा। आत्मौपम्य-बुद्धि के बिना न्याय बदले का रूप धारण कर लेगा।

१७४. वही बात ज्ञान के द्वारा भी। उसीसे निष्काम कर्म-योग का जन्म होता है

जिस प्रकार भाव द्वारा क्रिया का नियमन होना चाहिए, उसी प्रकार ज्ञान द्वारा भी क्रिया का नियमन होना चाहिए। ज्ञानावस्था की भूमिका इस प्रकार है—मैं शुभ और अशुभ से परे हूँ। मेरी दृष्टि से दोनों त्याज्य ही हैं और क्रिया में तो शुभाशुभ-विवेक आवश्यक है। इस प्रकार ये दोनों भूमिकाएँ परस्पर-विरोधी मालूम होती हैं, परन्तु वस्तुतः दोनों परस्पर-अनुग्राहक हैं। ज्ञानावस्था और क्रियावस्था भिन्न-भिन्न हों तो भी ज्ञानी पुरुष की क्रिया पर उसके ज्ञान की प्रभा झलकती है। उसके ज्ञान का रंग उसकी क्रिया पर चढ़ता है। उसकी क्रिया उसके ज्ञान से प्रकाशित और मण्डित होती है। क्रिया में शुभाशुभ-विवेक होता हो तो भी शुभ और अशुभ दोनों मिथ्या हैं, यह ज्ञान उसे अवश्य रहता है। इससे क्रियावस्था में भी वह अलिप्त और निरहंकार रहता है। केवल ज्ञानावस्था में ही सर्व-कर्म-संन्यास की भूमिका रहती है। क्रिया-वस्था में वह शुभाशुभ-विवेक से काम लेता है। तो भी ज्ञानावस्था के ज्ञान के कारण अहंकार या लिप्तता नहीं आने पाती। उसीमें से निष्काम कर्मयोग का जन्म होता है।

१७५. 'मुक्त का चिन्तन करते-करते स्वयं ही मुक्त होते हैं।' अतः स्थितप्रज्ञ की अवस्था का ज्ञान साधक और समाज के लिए आवश्यक

इस तरह ये तीनों अवस्थाएँ परस्पर-संस्पृष्ट, परस्पर-संमिश्र हैं। ये तीनों मिलकर स्थितप्रज्ञ का एक ही परिपूर्ण और भव्य जीवन बनता है। परन्तु स्थितप्रज्ञ के जीवन का यह भव्य लक्षण जानने से हमें क्या लाभ? यह प्रश्न मन में उठ सकता है। उसका उत्तर ज्ञानदेव देते हैं—'मुक्त का चिन्तन करते-करते खुद ही मुक्त होते हैं।' मुक्त पुरुष के जीवन का चिन्तन

करने से हमें अपनी मुक्ति के दर्शन होते हैं। मुक्ति केवल स्थितप्रज्ञ की वपौती नहीं है, वह तो सभी की अपनी है। मुक्त पुरुष के चिन्तन से हमारी खोयी हुई वस्तु खोज निकालने की दिशा हाथ लगती है। अतः उनका जीवनादर्श और जीवन-स्पर्श साधक और समाज के लिए उपयोगी है। उसकी ये अवस्थाएँ यद्यपि उसके लिए स्वाभाविक हैं तो भी हमें वे प्रयत्न से साध्य होंगी और इसलिए अनुकरणीय है। हमें उस दिशा में जाना है। अपना जीवन तदभिमुख वनाना है। उसकी आदत डालनी है। सारे समाज के ऐहिक जीवन की सार्थकता भी मोक्ष-प्रवण होने में है। स्थितप्रज्ञ के उदाहरण से यह मालूम होता है कि हमारा जीवन मुक्ति का साधन हो सकता है। स्थितप्रज्ञ में हमें परिपूर्ण और निर्दोप आदर्श का दर्शन होगा। दूसरे लोगों के प्रयत्न में दोप रहेंगे—कमियाँ रहेंगी। तो भी आत्मा का स्वरूप सर्वत्र समान ही होने के कारण स्थितप्रज्ञ के जीवन की अवस्थाओं का ज्ञान साधक और समाज के लिए आवश्यक है।

## २

**१७६. स्थितप्रज्ञ की त्रिसूत्री 'ॐ तत् सत्' के द्वारा सूचित**

यहाँ त्रिसूत्री में वर्णित विपय भगवद्गीता में सत्रहवें अध्याय के अंत में 'ॐ तत् सत्' मंत्र के द्वारा वताया गया है। मंत्र यद्यपि शब्दात्मक है तो भी उसकी सामर्थ्य विलक्षण होती है। वह वस्तु-शून्य नहीं होता। मंत्र तोप के गोले से भी शक्तिशाली होता है। मंत्र जीवन को मोड़ता है। मंत्र के प्रभाव से और प्रेरणा से मनुष्य स्वेच्छा से अपना जीवन तदनुरूप वनाने लगता है। स्थितप्रज्ञ के जीवन-पथ पर सब लोग चल सकें, इसीलिए गीता ने दयालु होकर यह चिन्तामणि-जैसा मंत्र हमें दिया है। वह वेद और उपनिषदों का सार-रूप समझा जाता है।

उसमें ॐ पहला पद है। ॐ माने ईश्वर-तत्त्व—विराट्, व्यापक,

विशाल ! सबका समावेश करनेवाला ब्रह्म का सगुण-स्वरूप ! ॐ अक्षर हैं और शब्द भी है। शब्द के रूप में ॐ का अर्थ 'हाँ' है। ॐ ईश्वर का 'हाँ' रूप है। तुका म्हणे जे जे बोला। तें तें साजे या विठ्ठला।।"[1] इस तरह तुकाराम ने ईश्वर का हंकारात्मक वर्णन किया है। वह साकार है ?—'हाँ'। निराकार है ?—'हाँ'। शुभ है ?—'हाँ'। अशुभ है ?—'हाँ'। सगुण है ?—'हाँ'। निर्गुण है ? अणु है ? महान् है ? इत्यादि सब प्रश्नों का उत्तर है—'हाँ'। "इदंमयः अदोमयः" वह यह भी है और वह भी है। जो कुछ कल्पना में समाता है और नहीं भी समाता है उस सबको अपने उदर में समा लेनेवाला जो व्यापक, विशाल, भव्य रूप है उसका वाचक ॐ शब्द है। अतः भावावस्था की उपलब्धि के लिए ॐ शब्द भावनीय है।

**१७७. पहला पद ॐ। ॐ शब्द भावावस्था की लब्धि के लिए भावनीय है**

अक्षर के रूप में ॐ वर्ण-मात्र का प्रतीक माना जाता है। उसकी शुरुआत 'अ' से है और अन्त 'म' में है। इन दोनों को जोड़नेवाला साँधा है 'उ'। वर्णमाला का आरम्भ 'अ' से होकर 'म' में उसकी समाप्ति होती है। वर्ण का उद्गम कण्ठ से होता है और समाप्ति ओंठ पर। 'अ' वर्ण का आदि कण्ठ से उच्चरित और 'म' ओष्ठ-स्थान से उच्चरित अन्तिम वर्ण है। 'म' का उच्चारण करते हुए हम दोनों ओंठ मिला लेते हैं और नाक से भी कुछ काम लेते हैं। अतः 'म' के बाद कोई वर्ण नहीं है। हम 'म' के बाद य, र, ल, व, की गिनती करते हैं; परन्तु वे आन्तर स्थान से उत्पन्न होनेवाले वर्ण हैं। कण्ठ और ओष्ठ के दरमियान उनका स्थान है। कण्ठ और ओष्ठ के बीच के स्थान से उत्पन्न होनेवाले वर्णों का प्रतिनिधि 'उ' मौजूद है। 'उ' का अर्थ है उभय, इधर और उधर की संधि मिलानेवाला। कुल मिलाकर सर्व सारस्वत, सर्व

**१७८. ॐ अक्षर वर्ण-मात्र का प्रतीक है**

---

१. "तुका बोले जो-जो कहें सो-सो विट्ठल को सोहै।"

साहित्य, सर्व शुभाशुभ वाङ्मय ॐ में आ गये। यह उपपत्ति है तो काल्पनिक, परन्तु इस तरह सारी वाणी का एक प्रतीक कल्पित करने में व्यापक, विश्व-रूप, ईश्वर-तत्त्व के चिह्न के तौर पर वह चिन्तन में उपयोगी होता है।

तुलनात्मक व्युत्पत्ति की दृष्टि से मेरा खयाल है कि ॐ एक धातु-रूप है। 'सर्वत्र व्याप्त होकर रहना' उस धातु का मूल अर्थ है। जो स्वरूप भूत-मात्र में पिरोया हुआ है, वह ॐ है। किंवहुना मराठी का अतिप्राचीन अर्थात् पूर्ववैदिक 'ओंव' धातु 'ॐ' धातु से ही बना है। इन दिनों शास्त्रज्ञों ने भी लगभग यह मान लिया है कि मराठी की व्युत्पत्ति कहीं-कहीं पूर्व-वैदिक काल से जा मिलती है। कुछ लोग 'ओंव' धातु को संस्कृत के 'वे' धातु से सम्बद्ध मानते हैं, लेकिन उसमें 'ओंव' के अन्तर्गत अनु-स्वार की उपपत्ति सधती नहीं है। ओंवी ( छन्द ) जो मराठी भाषा की गायत्री ही है, इसी 'ॐ' धातु का रूप है। ओंवी वह छन्द है, जिसमें सभी वाङ्मय सुलभता से ग्रथित किया जा सकता है। जिस प्रकार ॐ-कार में साढ़े तीन मात्रा की कल्पना है, उसी प्रकार ज्ञानदेव ने अपनी ओवियां साढ़े तीन चरण की रची हैं। 'उमा' शब्द में यही धातु है और उसका अर्थ है विश्वव्यापिनी देवी। इसी धातु में 'वि' उपसर्ग जोड़कर परम-व्यापक आकाश का सूचक 'व्योमन्' शब्द बना है। लैटिन का 'आम्निस' अर्थात् सर्व या विश्व इस ॐ की ही विकृति है। 'आम्निप्रेजेंट' इत्यादि अंग्रेजी शब्दों में लैटिन की यही विकृति पायी जाती है। इस तरह विचार करने पर स्थितप्रज्ञ की सकल विश्व को आलिंगन करनेवाली भावावस्था को सूचित करने के लिए 'ॐ' रूपी मन्त्रावयव बिलकुल उपयुक्त प्रतीत होता है।

१७९. ॐ की व्युत्पत्ति : ॐ एक धातु-रूप है

दूसरे पद 'तत्' का अर्थ है, 'वह'। जो न सत् न असत्। 'वह' यानी जो यह नहीं है, जो पास का नहीं है अर्थात् जो कल्पना से परे है। 'तत्' के चिन्तन से ज्ञानी पुरुष की ज्ञानावस्था सिद्ध होती

है। 'तत् त्वं असि' तू वह है, इस वाक्य में वह अवस्था दरशायी गयी है। यह कूड़ा-करकट, यह त्रिगुणात्मक जगत् तू नहीं है, तू इसके परे है। तुझे किसीका भी स्पर्श नहीं, यह बोध 'तत् त्वं असि' इस वाक्य के द्वारा कराया गया है। वही यह 'तत्' है।

**१८०. दूसरा पद तत्। ज्ञानावस्था की प्राप्ति के लिए चिन्तनीय**

तीसरा पद है 'सत्'। यह तो स्पष्ट ही है। अशुभ को छोड़कर जो शुभ को ग्रहण करता है, वह है सत्। 'सत्य का आग्रह, असत्य का त्याग' इस भूमिका को 'सत्' सूचित करता है। सत् अर्थात् 'शुद्ध' ब्रह्म।

**१८१. तीसरा पद 'सत्': क्रियावस्था की सिद्धि के लिए सेवनीय**

इस तरह 'ॐ' से व्यापक ब्रह्म, 'तत्' से निर्गुण ब्रह्म और 'सत्' से शुद्ध ब्रह्म का बोध होता है। ये तीन पद ज्ञानी पुरुष की तिहरी अवस्था के द्योतक हैं। ये तीनों अवस्थाएँ बिलकुल अलग-अलग नहीं हैं। हमने यह तो पहले देखा ही है कि ये तीनों अवस्थाएँ मिलकर ज्ञानी पुरुष का एक ही जीवन बनता है। क्रियावस्था में 'सत्' प्रधान होता है। स्थूल जीवन का मुख्य भाग क्रिया ही है। मनुष्य का व्यक्त, प्रकट जीवन क्रियात्मक ही होता है। महापुरुषों के जो जीवन-चरित्र लिखे जाते हैं उनमें उनके द्वारा किये गये कार्यों का ही मुख्यतया वर्णन होता है; क्योंकि जीवन का मुख्य दृश्य-भाग क्रिया ही है। उसके अनुसार 'सत्' को मुख्य शब्द समझना चाहिए। अर्थात् व्याकरण की भाषा में वह संज्ञा होगा। 'ॐ' और 'तत्' ये दोनों उसके विशेषण समझने चाहिए। क्रियावस्था को मुख्य मानकर उसे मण्डित करने के लिए दोनों अवस्थाओं के विशेषण जोड़ लें। उभय-विशेषण-विशिष्ट 'सत्' शब्द अर्थात्

**१८२. कुल मिलाकर 'ॐ तत् सत्' यह मन्त्र व्यापक, अलिप्त और परिशुद्ध जीवन का वाचक है। वह किसी भी पूर्ण विचार का स्वरूप है।**

'ॐ तत् सत्' मन्त्र ( ॐ अर्थात् ) व्यापक, ( तत् अर्थात् ) अलिप्त, ( सत् अर्थात् ) परिशुद्ध जीवन का द्योतक होगा। इस तरह व्यापक, अलिप्त और परिशुद्ध अथवा सत्यमय यह सब मिलकर पूर्ण जीवन का स्वरूप बनता है, और यही किसी भी पूर्ण विचार अथवा पूर्ण प्रयोग का स्वरूप होगा।

**१८३. सत्याग्रह का उदाहरण**

उदाहरण के लिए हम सत्याग्रह का स्वरूप देखें। सत्याग्रह में सत् का आग्रह और असत् का विरोध तो स्पष्ट ही है; लेकिन सत्य को अपनाकर असत्य का प्रतिकार करते समय विश्वात्मभाव को न भूलना चाहिए। सामनेवाला भी मेरा ही रूप है, यह व्यापक ज्ञान सतत बना रहना चाहिए। अपने हाथ में लगे काँटे को जिस तरह सँभालकर व हलके हाथ से मैं निकालता हूँ, उसी सावधानी और चिन्ता से दूसरे के जीवन के दोष निकालने का प्रयत्न करूँगा। यह ध्यान रख कि यह कार्य ऊपर से उसे सुधारने का भले ही दिखाई दे, परन्तु वस्तुतः तो यह तेरा अपना ही सुधार-कार्य है। न क्रोध कर, न चिढ़; क्योंकि जहाँ तुझे अशुभ दिखाई देता है, वहाँ शुभ ही है। उसे देख। उस शुभ के द्वारा उसके हृदय में प्रवेश कर, तब तू अशुभ का भी सफलतापूर्वक प्रतिकार कर सकेगा। ॐ पद के द्वारा यही सुझाया गया है। ॐकार कहता है—जिसका तू प्रतिकार करना चाहता है, जिसे तू अशुभ समझता है वह भी ईश्वर का ही स्वरूप है, इस भावना की छाप तेरे प्रतिकार पर पड़ने दे। यही सत्याग्रह की बुनियाद है। यह सब करने के बाद यह मेरी विजय हुई, यह सब मैंने किया है, ऐसा भास न होने दे। यह ध्यान रख कि वस्तुतः यह सब खेल है, मृगजल है। इस सबसे तेरा और उसका वास्तविक रूप अलग है। खेल में फँसकर अपना भान मत भूल। खेल खेल ही रहना चाहिए। यह निरन्तर भेद याद रहना चाहिए कि हम इससे अलग हैं। यह अलिप्तता का तत्त्व 'तत्' पद से सूचित किया गया है।

सत्याग्रह का विचार तो उदाहरण था। मनुष्य-जीवन के सम्पूर्ण आचार का यही सूत्र है। पुत्र पिता से, पिता पुत्र से, शिष्य गुरु से, गुरु शिष्य से तथा ऐसे ही दूसरे सम्बन्धों में परस्पर कैसा व्यवहार करें, इसका सूत्र इस मंत्र में है। इस मंत्र के तीनों शब्दों को मिलाकर जो भाव बनता है वह उसके प्रत्येक शब्द में गृहीत समझना चाहिए। अगर शुभाशुभ का संग्रह करनेवाला केवल ध्यानावस्था का तत्त्व ही उसमें से अलग निकाल लें तो जीवन-व्यवहार के लिए आवश्यक विवेक ही खतम हो जायगा और अगर शुभाशुभ के परे की केवल ज्ञान की ही भूमिका ग्रहण करें तो सारे कर्म ही लुप्त हो जायँगे। अगर शुभाशुभ-विवेकयुक्त क्रियावस्था को ही अपनायें, तो विवेक के नाम पर जीवन में असंख्य भेद उत्पन्न हो जायँगे। जीवन खण्डित और भेद-संकुल बन जायगा। इसलिए तीनों स्वरूपों का एक साथ विचार करके तब क्रिया की नीति और स्वरूप का निश्चय करेंगे, तभी वह निर्दोष होगी। ये तीनों बातें ध्यान में रखकर ही यहाँ स्थितप्रज्ञ के लक्षण बताये गये हैं।

**१८४. यही बात सारे जीवन पर लागू होती है**

## ३

यहाँ पर स्थितप्रज्ञ के लक्षण समाप्त होते हैं। लेकिन हम एक बार फिर अर्जुन के मुख्य प्रश्न का आकार ध्यान से देखें तो स्थितप्रज्ञ के लक्षणों का प्रवाह हमारी समझ में आ जायगा। अर्जुन का पहला प्रश्न है—स्थितप्रज्ञ की भाषा बताइये। भाषा यानी व्याख्या। सो एक ही श्लोक में भगवान् ने विधायक और निषेधक दोनों प्रकारों को मिलाकर एक परिपूर्ण व्याख्या दे दी। यों उसके प्रश्न का उत्तर दिया तो, लेकिन अर्जुन केवल व्याख्या पूछकर ही नहीं रुका। उसने यह भी पूछा कि स्थितप्रज्ञ कैसे रहता है और कैसे चलता-फिरता है? इसका उत्तर उन्होंने

**१८५. उपसंहार। अर्जुन के प्रश्न का आकार और उसके अनुसार स्थितप्रज्ञ-लक्षणों का प्रवाह**

ऐसा नहीं दिया कि वह इस तरह बोलता है, मधुर या कठोर बोलता है, वह इस तरह रहता है—गरीबी से या मध्यम अवस्था में रहता है, वह इस तरह चलता है—द्रुत अथवा मंद गति से चलता है, आदि। तीनों प्रश्नों का अर्थ सारे जीवन को लेकर किया है। बोलना, चलना और रहना, इसका अर्थ हम समग्र जीवन ही लेते हैं और यही अर्थ ग्रहण करके यहाँ उत्तर दिया गया है। फिर इस उत्तर में तीनों प्रश्नों के अक्षरार्थ के संकेत भी अस्पष्ट रूप से मिलते हैं। 'कैसे बोलता है ?' इस प्रश्न के द्वारा स्थितप्रज्ञ की व्याख्या का स्थूल विवेचन अथवा उसका प्रत्यक्ष आचरण जानने की इच्छा की गयी है, यह मानकर तीन श्लोकों में उसका उत्तर दिया है। उसके प्रश्न का बिलकुल अस्पष्ट संकेत 'नाभिनन्दति न द्वेष्टि' अर्थात् वह न किसी-का अभिनन्दन करता और न किसीको बुरा ही बताता है, इन शब्दों में सूक्ष्मदर्शी टीकाकारों ने खोज निकाला है। 'कैसे रहता है ?' इन शब्दों में उसने यह अवस्था कैसे प्राप्त कर ली है, किस साधना से की है, यह जिज्ञासा मानकर उसका वर्णन उपपत्ति-सहित दस श्लोकों में किया है। 'किमासीत ?' इस प्रश्न का संकेत 'आसीतमत्पर:' में झलकता है। अन्त में 'किं व्रजेत' ? अर्थात् फिरता कैसे है ? इस प्रश्न के उत्तर में स्थितप्रज्ञ का विहार-वर्णन करनेवाली त्रिसूत्री कही गयी है। 'पुमाँश् चरति निःस्पृहः' इसमें 'चरति' शब्द में उस शब्द का संकेत समझना चाहिए। कुल मिलाकर अर्जुन का प्रश्न इस तरह बनता है—( १ ) समाधि में स्थिर हुआ जो आपका स्थितप्रज्ञ है उसके विधायक और निषेधक दोनों रूपों को लेकर परिपूर्ण व्याख्या क्या होगी ? ( २ ) स्थितप्रज्ञ का प्रकट, प्रत्यक्ष, सबके लिए सुबोध अनुकरण-सुलभ लक्षण क्या होगा ? ( ३ ) किस साधन और किस उपपत्ति से उसने वे लक्षण अपने में उतारे होंगे ? ( ४ ) स्थित-प्रज्ञ के इस लोक की जीवन-यात्रा अथवा जीवन-लीला के स्वरूप की भूमिका कैसी होगी ? यदि अर्जुन के इस प्रश्न का ऐसा व्यापक अर्थ करें तो फिर उससे ठीक वही अर्थ फलित होगा, जो यहाँ दिया गया है।

●

# अठारहवाँ व्याख्यान

## १

स्थितप्रज्ञ-लक्षण यहाँ समाप्त होते हैं। अब अन्तिम श्लोक में फलश्रुति कही गयी है; परन्तु कई भारी-भरकम धर्म-ग्रन्थों की फलश्रुति जैसी बेकार होती है, वैसी पद्धति गीता की नहीं है।

**१८६. स्थितप्रज्ञ-लक्षणों की अनुभवसिद्ध फलश्रुति**

गीता में हर जगह अनुभव-सिद्ध, युक्तियुक्त और सुनिश्चित फलश्रुति बतायी गयी है। यहाँ भी वैसी ही शास्त्रीय फलश्रुति कही गयी है :

> एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
> स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥

"हे अर्जुन, इस स्थिति को ब्राह्मी स्थिति कहते हैं। जो इसे प्राप्त कर लेता है वह फिर उससे नहीं डिगता, मरण-काल में भी वह स्थिति ज्यों-की-त्यों कायम रहती है और इसके फलस्वरूप वह ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त करता है।" आखिरी श्लोक में यह फलश्रुति बतायी है।

यहाँ का 'स्थिति' शब्द 'वृत्ति' से पृथक्त्व सूचित करता है। 'स्थितप्रज्ञ' शब्द में भी यही शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'वृत्ति' और 'स्थिति' शब्दों का अन्तर उनके धात्वर्थ पर ध्यान देने से और अधिक स्पष्ट होगा। 'स्थिति' में 'स्था' धातु है। 'स्था' का अर्थ है खड़े रहना। इसमें स्थिरता का, अचांचल्य का भाव है। 'वृत्ति' में वृत् धातु है। इसका अर्थ है गोल-गोल घूमना, घूमते रहना। 'वर्तुल'

**१८७. 'स्थिति' शब्द की खूबी**

शब्द में भी यही धातु है। 'वृत्ति' में अस्थिरता का, एक जगह टिककर न रहने का भाव है। मनुष्य की वृत्तियाँ टिकती नहीं हैं। वे बदलती रहती हैं। जागृति के बाद सुषुप्ति आती है और सुषुप्ति से स्वप्न। फिर जाग्रतावस्था में कभी क्रोध-वृत्ति, और कभी मोह, उत्साह और नैराश्य आदि कई वृत्ति-भेद पाये जाते हैं। इस तरह अनेक वृत्ति-भेद होते हुए भी योगशास्त्र ने उनके पाँच वर्ग बनाये हैं। इन पाँचों प्रकार की वृत्तियों से अलग होना ही 'योग' है। इसके साधनस्वरूप आठ सीढ़ियाँ बतायी गयी हैं। उनमें अन्तिम सीढ़ी है समाधि, अर्थात् 'ध्यान-समाधि'। लेकिन ध्यान-समाधि योग नहीं है, क्योंकि वह भी एक वृत्ति ही है। हाँ, वह आखिरी वृत्ति है, फिर भी योग नहीं है। योग अर्थात् सब वृत्तियों का अभाव अथवा अधिक सही भाषा में कहें तो सब वृत्तियों के प्रभाव का अभाव। समाधि ध्यान-वृत्ति का परिपाक है। यों तो मनुष्य की वृत्ति या तो विक्षिप्त अर्थात् चंचल या गतिमान् रहती है, अथवा शून्य होती है। समाधि में वह स्थिर होती है। स्थिर कहते ही 'स्था' धातु आ जाता है सही; परन्तु वह उतने ही समय के लिए।

**१८८. आत्म-ज्ञान और ध्यान-समाधि का भेद : ध्यान उतर जाता है**

समाधि से मुख्य लाभ यह होता है कि दूसरी सब वृत्तियों को हटाकर एक इष्टदेव के चिन्तन की वृत्ति ही उसमें बाकी रहती है। इष्टदेव को हम सर्वमंगल गुणों से परिपूर्ण मानते हैं, इसलिए उसके चिन्तन से चित्त का मैल धोने में बड़ी सहायता मिलती है। लेकिन यह ध्यान-समाधि भी कुछ समय बाद उतर जाती है। ध्यान-समाधि-रूप वृत्ति के भी उस पार जाने पर वृत्ति-शून्य स्थिरता प्राप्त होती है। इसे योगशास्त्र में 'प्रज्ञा' कहते हैं। इसी प्रज्ञा के स्थिर होने पर चित्त सहज ही निर्मल, प्रसन्न, शान्त और आत्म-निष्ठ रहता है। यही ब्राह्मी स्थिति है। यही स्थितप्रज्ञ की हमेशा टिकनेवाली सहजावस्था है। समाधि को वृत्ति लानी पड़ती है। उससे व्युत्थान होता है। व्युत्थान का अर्थ है चलन।

इसमें वैसा व्युत्थान नहीं है। ब्राह्मी स्थिति और ध्यान-समाधि में यही अन्तर है। आरम्भ में ही हमने इसे देख लिया है। उसीका यहाँ अधिक विवरण किया है। ब्राह्मी स्थिति नित्य है। उसके प्राप्त हो जाने पर फिर उससे चलन नहीं होता। 'नैनां प्राप्य विमुह्यति'— फिर मोह नहीं होता। अन्य ज्ञानों की तरह आत्म-ज्ञान में 'पुनश्च वही पीछेवाली बात' का फिर से श्रीगणेश नहीं करना पड़ता।

१८६. आत्मज्ञान और अन्य ज्ञान के भेद। अन्य ज्ञान भाररूप

'ज्ञान' और 'ध्यान' में तो भेद है ही, परन्तु आत्मज्ञान और अन्य ज्ञानों में भी भेद है। ध्यान कृत्रिम होता है। वह प्रयत्नपूर्वक स्वीकार की गयी वृत्ति है। ज्ञान वैसा कृत्रिम नहीं है, वह प्रयत्नपूर्वक लाया हुआ नहीं होता। यह तो हुआ ज्ञान और ध्यान का अन्तर; परन्तु अन्य सब प्रकार के ज्ञानों और आत्म-ज्ञान में भी महत्त्वपूर्ण अन्तर है। मैंने भूगोल का अभ्यास किया। परीक्षा समाप्त हुई कि अब उस ज्ञान की आवश्यकता नहीं रही। उसे भूल गये। काशी में रहते हुए उत्तर प्रदेश की रेलगाड़ियों का समय-पत्रक मुझे याद था, पर अब उसकी जरूरत नहीं, भूल गया। यह ज्ञान बाह्य विषयों का होने के कारण बुद्धि के लिए भार-स्वरूप होता है। जब तक उसका उपयोग होता है तभी तक बुद्धि उनका भार वहन करती है। काम निपटते ही उसे फेंक देती है। ऐसा अवान्तर-ज्ञान का बहुत-सा बोझा बुद्धि पर लादना भारी विद्वत्ता का लक्षण समझा जाता है। भारी-भरकम विद्वत्ता का अर्थ है बुद्धि पर अधिक बोझ लादकर उसे कम-कूवत बनाना। ऐसी भारी विद्वत्ता से बुद्धि में जड़ता और स्थूलता ही आयेगी। भगवान् करे, कभी ऐसी भरकम विद्वत्ता किसीको न मिले। यह बात आत्मज्ञान पर लागू नहीं होती। आत्म-ज्ञान बोझ नहीं है।

ध्यान की कोटि बिलकुल अलग है। हम उपमा देते हैं, उदाहरणों से विषय को स्पष्ट करते हैं, रूपकों का उपयोग करते हैं, चित्र बनाते हैं, ये सब ध्यान के ही प्रकार हैं। एक वस्तु का दूसरी

वस्तु पर आरोप करना ध्यान है। किसी संकेत को वस्तु का प्रतिनिधि समझना ध्यान का तत्त्व है। अर्थात् ध्यान एक बनावट है। कागज पर हम 'आलमारी' के अक्षर कलम से लिखते हैं और लकड़ी की आलमारी का आरोप उन अक्षरों में करते हैं। यह ध्यान है। उससे ज्ञान नहीं बढ़ता। साहित्य के अलावा उसका स्वतन्त्र उपयोग भी नहीं है। अक्षरों की उस आलमारी में घी की बरनी नहीं रखी जा सकती। वह तो सिर्फ एक वस्तु का चित्र अथवा प्रतीक है। अलग-अलग भाषाओं में ऐसे एक ही वस्तु के भिन्न-भिन्न प्रतीक होंगे, लेकिन किसी संकेत को वस्तु का प्रतिनिधित्व देना—यह आखिर बनावट ही है। ध्यान की तरह बाह्य विषयों का ज्ञान बनावट न होने पर भी, वह आत्मा के बाहर का होने से, उसका बोझा बुद्धि पर रहता है। यह अमुक वनस्पति है, इसके अमुक-अमुक गुण-धर्म हैं। यह सब मैंने उन पर लादा नहीं है, यह सच है, अर्थात् यह वस्तु-ज्ञान है, लेकिन है बाहरी। वह मुझे याद रखना पड़ेगा। किन्तु यह बात आत्म-ज्ञान में नहीं है। वह जिस तरह बनावटी नहीं है, उसी तरह बाहरी भी नहीं है। इसलिए वह एक बार प्राप्त हुआ कि हमेशा के लिए प्राप्त हो गया। फिर उसके मलिन होने या नष्ट होने की सम्भावना नहीं है। यानी वह ज्ञान बौद्धिक नहीं, आत्मगत है। आत्मा में भिद गया है। अब वह किसी भी प्रकार से दूर न होगा। इसीको कहा है, ''नैनां प्राप्य विमुह्यति।''

**१९०. आत्मज्ञान, ध्यान और अन्य ज्ञानों का अधिक विवरण**

'स्थित्वास्याम् अन्तकालेऽपि'—'अन्तकाल में भी इस स्थिति में टिककर' इन शब्दों का अर्थ क्या है? कुछ लोग उसका अर्थ यह करते हैं कि अन्तकाल में भी ब्राह्मी स्थिति को टिका रखना चाहिए। मनुष्य का अन्तकाल कठिन माना जाता है। उस समय अपनी स्थिति को टिकाये रखना सरल नहीं होता। तब इतने प्रयासपूर्वक प्राप्त की गयी स्थिति ऐन मौके पर अर्थात् आखिरी क्षण

**१९१. ब्राह्मी स्थिति अन्तकाल में भी टिकती है**

में न कायम रही तो सारा ही किया-कराया धूल में मिल जायगा। अन्त समय में गाड़ी फिसल पड़े तो सभी चकनाचूर हो जायगा। इसलिए आमरण और मरण के समय भी उस स्थिति को टिकाये रखने की चिन्ता रखनी चाहिए, ऐसी विशेष सूचना इस वाक्य से ग्रहण की जाती है; परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है। अन्तकाल का महत्त्व है, इसमें कोई संदेह नहीं; और यह भी सच है कि साधक को उसके लिए अन्त समय तक जागरूक रहना चाहिए। इसीलिए गीता के आठवें अध्याय में प्रयाणकालीन साधना सविस्तर बतायी गयी है। और वहीं यह सूचना भी दे दी गयी है कि इस प्रयाण-काल की साधना को शक्य बनाने के लिए जीवनभर वैसा अभ्यास करते रहना चाहिए। परन्तु यह सब साधकावस्था के लिए है, ब्राह्मी-स्थिति के लिए नहीं। वास्तव में ऐसी बात ही नहीं है कि ब्राह्मी-स्थिति का क्षणमात्र के लिए अनुभव हो और बाद में शायद वह स्थिति चली जाय; और इसलिए उसे टिकाये रखने का सतत प्रयत्न करना चाहिए; क्योंकि ब्राह्मी-स्थिति कोई वृत्ति नहीं है। वह तो निरन्तर रहनेवाली अवस्था है। उसे सँभालते बैठने की आवश्यकता ही नहीं होती। वह तो टिकेगी ही। विकट माने जानेवाले अन्तकाल में भी वह नहीं डिगेगी। यह 'अन्तकालेऽपि' का अर्थ है। स्थिति शब्द में जो अर्थ सूचित किया गया है, उसका विवरण 'नैनां प्राप्य विमुह्यति' वाक्य के द्वारा किया है। और वही फिर 'स्थित्वास्याम् अन्तकालेऽपि' वाक्यखंड के द्वारा विशद किया गया है।

### १६२. ब्राह्मी-स्थिति में 'अगर-मगर' के लिए अवकाश नहीं है

ब्राह्मी-स्थिति हमेशा टिकती है, आपत्काल में भी टिकती है और मरण-काल में भी टिकती है। अन्य ज्ञानों की तरह वह भूल जाने-जैसी नहीं है। एक मनुष्य को कोई बीमारी हो गयी। उसने अंग्रेजी की कई परीक्षाएँ दी थीं। और हुआ क्या कि अपने दीर्घकालीन और तीव्र रोग में वह अंग्रेजी का सारा ज्ञान एकदम भूल गया; क्योंकि वह सारा ज्ञान

उसकी आत्मा के सिर लादा गया था। रोग से कमजोर हुई बुद्धि ने उसे फेंक दिया, यह ठीक ही किया। परन्तु आत्म-ज्ञान की ऐसी बात नहीं है। भले ही वह लाखों जन्मों तक प्राप्त न हो, पर एक बार प्राप्त होने पर फिर वह जा नहीं सकता। 'प्राप्त आत्म-ज्ञान–अगर–अन्त समय में भी टिका, तो ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त होता है', ऐसा 'अगर-मगर' का बखेड़ा यहाँ नहीं है। अगर-मगरवाले अर्थ की यहाँ गुन्जाइश ही नहीं है। वस्तुतः यही स्पष्ट करने के लिए यह श्लोक है।

शंकराचार्य के ध्यान में यह बात आये बिना नहीं रही। अतः उन्होंने 'अगर-मगर' वाले अर्थ को टालने के लिए एक दूसरी ही तरह से भाष्य किया है। अन्तकाल में, अर्थात् बिलकुल अन्तिम क्षण में भी यदि यह स्थिति प्राप्त हो जाय तो भी मनुष्य ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त कर लेगा, ऐसा उन्होंने अर्थ किया है। आचार्य का यह कथन सत्य है; लेकिन इस श्लोक के शब्दों से वैसा अर्थ निकालने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। 'स्थित्वास्याम् अन्तकालेऽपि' इन शब्दों की खूबी उसमें नहीं है। यह अवस्था इतनी दृढ़ और अडिग होती है कि अत्यन्त विकट माने जानेवाले अन्त समय को भी दाद नहीं देती, उस समय भी यह नहीं गड़बड़ाती। ऐसी इन शब्दों की ध्वनि दिखाई देती है। आचार्य का अर्थ अनर्थ तो नहीं, परन्तु शब्द से दूर चला जाता है। और जो अर्थ ब्राह्मी-स्थिति को टिकाने के लिए प्रयत्न करने की आवश्यकता बताता है, उसे तो महज अर्थवाद ही कहना पड़ता है।

**१६३. शंकराचार्य का विशेष अर्थ उपयुक्त, लेकिन अनावश्यक**

## २

अन्त में 'ब्रह्म-निर्वाणम् ऋच्छति' इस वाक्य के द्वारा फल-श्रुति बतायी गयी है। 'स्थितप्रज्ञ' की तरह 'ब्रह्म-निर्वाण' भी गीता का अपना विशिष्ट शब्द है। 'ब्रह्म-निर्वाण' का अर्थ है ब्रह्म में मिलना, घुल जाना,

**१६४. गीता का परम लक्ष्य ब्रह्म-निर्वाण। वही जीवन की सफलता**

लीन हो जाना। 'ब्रह्म-निर्वाण को जाता है', इसका अर्थ यह नहीं कि ब्रह्म किसी दूसरी जगह है और उसमें लीन होने के लिए कहीं जाना है। मुझमें और ब्रह्म में बाह्यतः देहाभिमान का पर्दा पड़ा दिखाई देता है। उस परदे का नष्ट हो जाना ही ब्रह्म में लीन हो जाना है। ब्रह्म तो मैं पहले से ही हूँ। देहाभिमान-रूपी परदा हटाकर ब्रह्म में लीन होना, उसमें मिल जाना, इसीमें मनुष्य-जीवन की सफलता है, इस आशय का सूचक शब्द 'ब्रह्म-निर्वाण' है। सारांश यह कि इस शब्द के द्वारा गीता यही सूचित करती है कि सारा जीवन-व्यापार, व्यक्तिगत संसार, समाज-सेवा, ज्ञान-संपादन, ध्यान आदि सब बातें इसी उद्देश्य को सामने रखकर करनी चाहिए।

**१६५. ब्रह्म-निर्वाण का अर्थ है देह को फेंककर व्यापकतम होना**

ब्रह्म अर्थात् विशाल, व्यापक। संकुचित जीवन को छोड़कर ब्रह्मरूप होना हमारा ध्येय है। एक जीव दूसरे की अपेक्षा बड़ा है। इस तरह दूसरे से तीसरा बड़ा है। जीवों में परस्पर ऐसा तर-तम-भाव पाया जाता है तब भी ब्रह्म की तुलना में जीव बहुत छोटा है। कितना ही हो, फिर भी वह परिमित है। एक सीमा में बँधा हुआ है। यह बद्धता छोड़कर, आजाद, खुला होना, व्यापक होना उसका ध्येय है। उस दिशा में प्रगति करना, उत्तरोत्तर व्यापकतर होते जाना यह साधना की दिशा है। व्यापकतम स्थिति प्राप्त होने का ही अर्थ है ब्रह्म-निर्वाण। वहाँ देह का परदा हट जाता है। यों देखा जाय तो देह साधक के लिए एक साधन-रूप है। कुछ समय तक वह साधना के लिए उपयोगी होता है। आगे मनुष्य की स्थिति जैसे-जैसे व्यापक होती जाती है, देह को वह पीछे-पीछे छोड़ता जाता है। इस व्यापकता के अभ्यास में ही प्रारम्भिक अवस्था में शरीर एक साधन का काम देता है। लेकिन बाद की प्रगत अवस्थाओं में वह विघ्न-रूप होने लगता है। ज्ञान, ध्यान, उपासना, कर्मयोग इन सबके लिए प्रारम्भ में शरीर उपकारक होता है; पर बाद में इन सबका परिपाक

विश्वव्यापी साक्षात्कार में होने पर सब कुछ आत्ममय दिखाई देने लगता है। इस अनुभूति के वाद शरीर निरुपयोगी होने लगता है।

इस स्थिति में ही, वल्कि इस स्थिति में विशेपतः, उसके द्वारा लोक-संग्रह होता दिखाई देता है। लोगों की दृष्टि में वह लोक-संग्रह महान् प्रतीत होता है, पर ज्ञानी पुरुप की अपनी दृष्टि से वह अल्प होता है। जव कोई ज्ञानी पुरुप मरता है तो हमें लगता है कि वड़ा नुकसान हो गया, इतने महान् लोक-संग्रह से हम वंचित हो गये। तव भी उसकी मृत्यु-तिथि को पुण्य तिथि कहना पड़ता है। हमें वह पुण्य दिवस प्रतीत नहीं होता। तत्त्वज्ञ संतों ने हम पर यह शव्द लाद दिया है और हमने उसे चुपचाप स्वीकार कर लिया है; परन्तु वह शव्द अर्थपूर्ण है। वास्तव में वह पुण्य तिथि ही होती है। ज्ञानी पुरुप के सच्चे लोक-संग्रह की उस दिन से शुरुआत होती है। उसके पहले का लोक-संग्रह वास्तव में वहुत अल्प होता है। ज्ञानी पुरुष का हो तो भी उसका शरीर तो इतना-सा ही ठहरा न! उसके द्वारा कितना लोक-संग्रह हो सकेगा? लेकिन शरीर के द्वारा होने के कारण वह लोक-संग्रह प्रकट रहता है, दिखाई देता है। इस दर्शन-मोह के कारण, ज्ञानी पुरुप का शरीर-पात होने पर हमें प्रतीत होता है कि वहुत वड़ा नुकसान हो गया। लेकिन सच तो यह है कि सर्वभूत-सेवा में यह शरीर आखिर वाधक ही होता रहता है।

**१९६. इसी स्थिति में लोक-संग्रह परिपूर्ण होता है**

शरीर का परदा रखते हुए सव भूतों के साथ पूर्ण समरस होना शक्य नहीं है। शरीर के कारण सवके हृदय में प्रवेश करने में वाधा आती है। जव तक हमारे पास अपने विशिष्ट हृदय का होना ही दूसरे के हृदय को पहचानने का साधन होता है, तव तक शरीर काम की चीज है। मैं स्वयं अपनी भूख-प्यास, सुख-दुःख इत्यादि अनुभवों से दूसरे की स्थिति को समझ पाता हूँ, इसीसे आत्मौपम्य की साधना के लिए मुझे अवसर प्राप्त

**१९७. वहाँ देह नहीं है, क्योंकि देह की आवश्यकता नहीं है**

होता है। मेरा हृदय जब तक दूसरे की स्थिति को समझने का नाप होता है, तब तक शरीर का काम रहता है। लेकिन सर्वभूत-हृदय का साक्षात्कार होते ही, तादात्म्य की अनुभूति होते ही, विशिष्ट देह, विशिष्ट इन्द्रियाँ, विशिष्ट मन, विशिष्ट बुद्धि, विशिष्ट हृदय, ये सब 'विशिष्ट' बाधक हो जाते हैं, उपाधि साबित हो जाते हैं। इसलिए इन सब उपाधियों को तोड़कर, देह-भाव फोड़कर, सर्वभूत-हृदय से तादात्म्य पाना, अनन्त में लीन होना, ब्रह्म में घुल-मिल जाना, यह अन्तिम ध्येय समझ में आने-जैसा है। इसीको ब्रह्म-निर्वाण कहते हैं।

३

बौद्धों ने इसमें से ब्रह्म निकालकर सिर्फ 'निर्वाण' शब्द को ले लिया है। इसका अर्थ इतना ही है कि बौद्धों को निषेधक भाषा पसन्द आयी। मनुष्य अपनापन छोड़ दे, अहंतारूपी मटके को फोड़ डाले, इसी भाव का सूचक 'निर्वाण' शब्द है। मनुष्य के मरने पर उसके नाम से हम एक हाँड़ी फोड़ते हैं। हिन्दू-धर्म-शास्त्र ने ऐसी एक विधि चला दी है। इसके मूल में यह कल्पना है कि यह यों भी 'मरा' तो कहा ही जायगा, पर इसे सच्चे अर्थ में मर जाने दो। उसकी वासना का ठीकरा फूट जाने दो, उसकी अहंता का नाश हो जाने दो। शरीर की राख कर डालने का हेतु भी यही है। बाप मर गया, उसे गाड़ दिया और समाधि पर आम का पेड़ लगाया। उसमें आम लगे। हम कहते हैं, मेरे पिता की समाधि पर के ये आम हैं। माँ को खेत में गाड़ा। नींबू का पेड़ लगाया। इस नींबू को मेरी माँ की हड्डियों की खाद मिली। इस मोह से लोगों को छुड़ाने के लिए दहन-क्रिया शुरू की है। यह दहन-क्रिया एक महान् विचार का चिह्न है। मृत व्यक्ति किसी-न-किसी रूप में हमसे चिपका रहे—यह मोह किसलिए? मैं क्या ऐसा पारसमणि हूँ, जो मुझसे चिपके रहने से उसका जीव सोने का हो जायगा? मरने पर भी मनुष्य किसी-न-किसी रूप में शेष रहे, इस भाव से उसे गाड़कर उस

१६८. बौद्धों ने निषेधक शब्द 'निर्वाण' ले लिया

पर चबूतरा बनाना, कम-से-कम एक पेड़ ही लगा देना, या और कुछ नहीं तो कम-से-कम उसके नाम की एक पटिया ही लगा देना, यह मर जाने पर भी उसे फिर से पकड़ रखने के प्रयत्न जैसा ही है। इसलिए दहन का मार्ग निकला। तब भी स्मारक बनते ही हैं। जलाकर राख बना दो, फिर बिलकुल खत्म हो जायगा। इस निषेधक भावना का द्योतक होने से बौद्धों ने निषेधक शब्द पसन्द किया है। मनुष्य का मोह उसकी देह के साथ ही नष्ट हो जाय, वह शून्य हो जाय, इसीलिए बौद्धों ने केवल 'निर्वाण' शब्द ही लिया है।

किन्तु वैदिकों ने 'ब्रह्म-निर्वाण' इस विधायक शब्द को प्रसन्द किया। वैदिकों को विधायक भाषा अच्छी लगी। क्यों लगी, यह देखें तो दोनों पक्षों की भाषा की मधुरता और मर्यादा ध्यान में आ जायगी। भाषा का पूर्णरूप से निर्दोष होना संभव नहीं है। भाषा का स्वरूप ही ऐसा विलक्षण है कि वह एक तरफ से अर्थ समझाती है तो दूसरी तरफ गलतफहमी पैदा करती है। अतः विधायक और निषेधक दोनों तरह की भाषा का भाव समझकर जो रुचे, उसे स्वीकार करो। वैदिकों को लगा कि मोक्ष को अभाव-रूप कहने की अपेक्षा भाव-रूप कहना उचित है। वैदिकों को लगा कि 'हम नष्ट हो गये', 'शून्य हो गये' कहने की अपेक्षा हम 'व्यापक हो गये', 'अनन्त हो गये' कहना अधिक अच्छा है। इसके विपरीत बौद्ध कहते हैं 'मिट गये' ऐसा कहने में घबराते क्यों हो? जरा हिम्मत करो। शून्य बनो। 'मिट जाने' का डर छोड़ो। "मैं अनन्त होऊँगा, व्यापक होऊँगा, सर्वमय होऊँगा"— इसमें अस्तित्व का जो मोह है उसे छोड़ दो। इस पर वैदिक कहते हैं, यहाँ डर और मोह का प्रश्न नहीं है। अनुभूति के विरुद्ध कल्पना कैसे करें? अब तक नाना प्रकार की साधना करके सब कुछ छोड़ा और आत्मनिष्ठ बने। जन्म-मृत्यु को पीछे छोड़कर अपना वास्तविक स्वरूप प्राप्त किया। धर्म से अधर्म का नाश किया, फल-त्याग से

**१६६. वैदिकों को 'ब्रह्म-निर्वाण' यह विधायक भाषा मधुर प्रतीत हुई**

धर्म को आत्मसात् किया, ईश्वरार्पण के द्वारा फल-त्याग को उड़ाया, अन्त में अद्वैतानुभूति से ईश्वर को भी अपने में समा लिया, अब वह मैं ही मिटनेवाला हूँ यह कैसे मानूँ ? सब वस्तुओं का निराकरण करने पर शेष बचनेवाला जो 'मैं' हूँ, वही व्यापक हो गया है, ब्रह्म-मय हो गया है, यही कहना अधिक युक्तियुक्त है ।

लेकिन मोक्ष को भाव-रूप कहने पर भी उसमें कुछ नवीन जोड़ना है, यह आशय वैदिकों का भी नहीं है । इसके विपरीत बौद्ध भी आत्मा के अस्तित्व का निषेध करना चाहते हैं ऐसा खयाल करना भी मेरी समझ से उनके आशय को गलत समझना है । ऐसी गलतफहमी बहुतों को हुई है, बड़ों-बड़ों को हुई है, तब भी वह है तो गलतफहमी ही । बौद्धों को 'मैं' की भाषा नहीं चाहिए । फिर बाकी कुछ भी क्यों न हो ? इसलिए यह भाषा-भेद मुख्यतः रुचि-भेद के कारण हुआ है, यही समझना चाहिए । इसमें अर्थ की दृष्टि से मुझे तो खास कोई भेद दिखाई नहीं देता । अच्छा ही है कि बौद्धों को 'मैं' से अरुचि है । अनेक हीन अनुभवों के कीचड़ में लथपथ 'मैं' की जरूरत ही क्या ? और वस्तुतः 'ब्रह्म-निर्वाण' शब्द में उसे कहाँ जगह दी गयी है ! सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो 'ब्रह्म-निर्वाण' शब्द केवल विधायक नहीं है, वह निषेधक अर्थ को गर्भ में लिये हुए विधायक है । दोनों अर्थों के संग्राहक के रूप में ही गीता ने उसकी योजना की है । 'ब्रह्म-निर्वाण' कहने पर, 'मैं' गया, 'ब्रह्म' बाकी बचा । इसमें डरने की कोई बात ही नहीं । जहाँ शब्द ही समाप्त हो जाते हैं वहाँ शब्दों के लिए झगड़ा कैसा ? गीता की भाषा में तो कहूँगा, "एकं ब्रह्मं च शून्यं च, यः पश्यति स पश्यति", जो ब्रह्म और शून्य को एक देखता है वही देखता है । इसलिए 'ब्रह्म-निर्वाण' शब्द के द्वारा सारा वाद ही समाप्त कर दिया है ।

२००. वस्तुतः दोनों एक ही हैं

**यहाँ स्थितप्रज्ञ का दर्शन परिपूर्ण हुआ ।**

**॥ ॐ तत् सत् ब्रह्मार्पणमस्तु ॥**

●